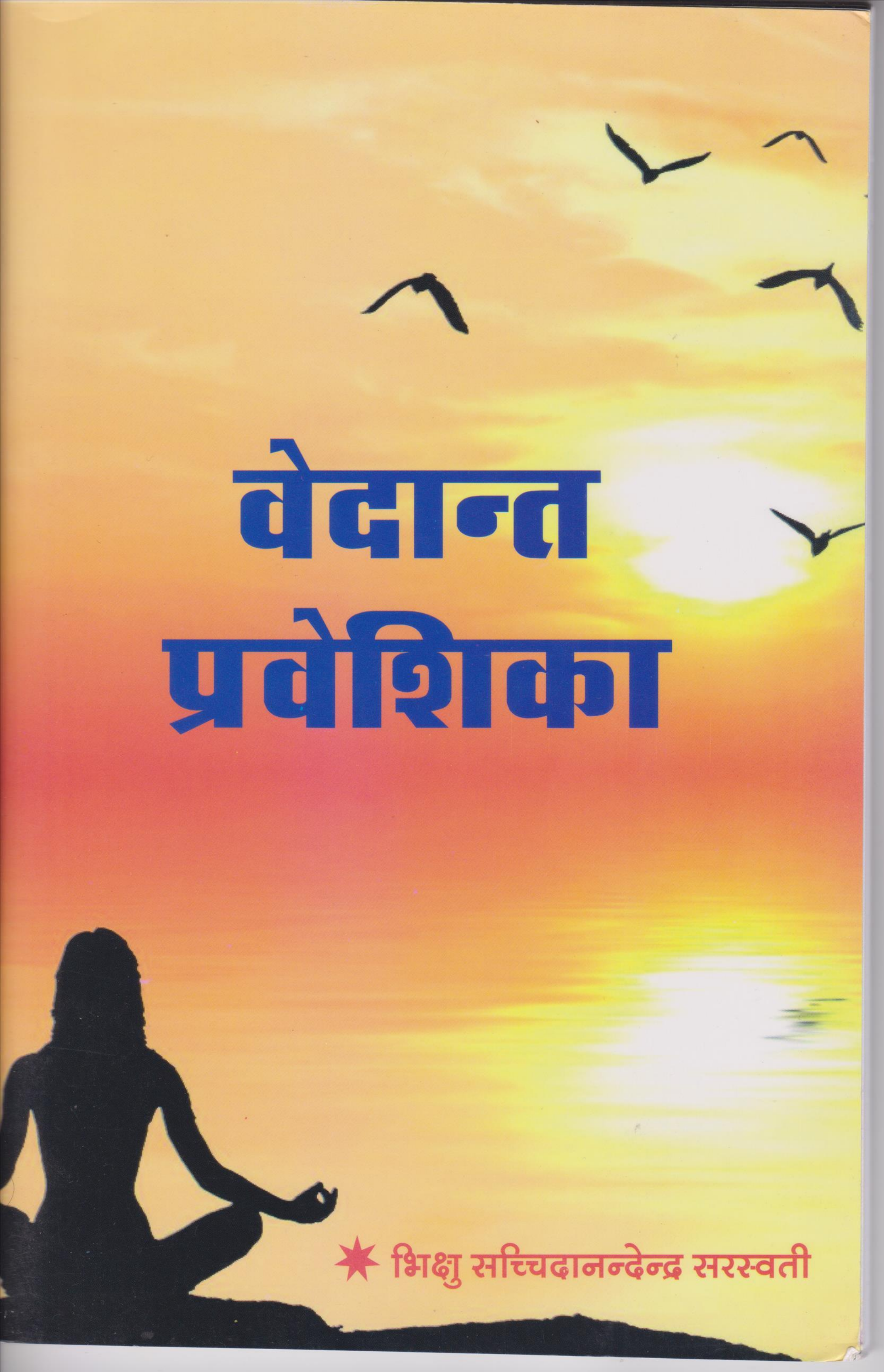

वेदान्त प्रवेशिका

भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती

वेदान्त प्रवेशिका

(मूल,प्रतिपदार्थ,तात्पर्य,विवरण सहित)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल कन्नड़भाषा लेखक भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती

हिन्दी भाषानुवाद भिक्षु सुरेश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक सुगमा प्रकाशन,रतलाम,म.प्र.

पुस्तक क्रमांक 6

प्रथम संस्करण 2022 (एक हजार प्रति)

पुस्तक प्राप्तिस्थान 1. जगदीश चन्द्र सेन 9340583593

2. गोवर्धन भाई पटेल 9909277995

मुद्रक राधिका प्रिन्टर्स,शाहपुरा { भीलवाड़ा,राज.}

मूल्य निःशुल्क

विषय सूची

(सूचना : आवरण में विद्यमान संख्या उस विषय का प्रारम्भपृष्ठ है)
पीठिका:–III ★ भूमिका–IV ★ मूल स्तोत्र पाठ–X

1. आत्मानात्मविवेक

अनुबन्ध (1) –मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं (5) –मैं मन नहीं अहंकार नहीं (9) –मैं बुद्धि नहीं (11) –मैं प्राणों का समूह नहीं (12) –मैं पत्नी,बच्चे, खेती, धन इन सब से दूर हूँ(14) –मैं साक्षी हूँ,नित्य हूँ,प्रत्यगात्मा हूँ (15) –मैं शिव हूँ (20) 1–20

2. जीवत्वभ्रान्ति का परिहार

रज्जुसर्प का दृष्टान्त (22) –आत्मा को नहीं जानने का कारण जीवत्व प्रतिभास रहा है (28) – सद्गुरू के उपदेश से शिवस्वरूप को समझना (29) 22–32

3. जगद्भ्रान्ति का परिहार

रज्जुसर्पदृष्टान्त के विषय में शङ्का (34) – प्रपंच मिथ्याज्ञान के कारण आत्मा में ही प्रतिभास रहा है(35) – आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है(37) – प्रपंच की प्रतीति स्वप्न के समान है(40) – प्रपंच सत्य नहीं है(42) मैं शुद्ध हूँ,पूर्ण हूँ,नित्य हूँ,एक हूँ (45) – मैं शिव हूँ (46) 34–47

4. द्वैतस्थिरत्व भ्रान्ति का परिहार

मुझ से अलग हुआ प्रपंच नहीं है(49) – बाहर की वस्तु मायिक है(53) –प्रपंच दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान अद्वैतात्मा में प्रतिभास रहा है (57) – इसलिए मैं शिव हूँ(60) 48–62

5. वेदान्तज्ञान का प्रयोजन

प्राकृत हुए समस्त धर्म देह के हैं(65) –कर्तृत्वादि अहंकार के धर्म हैं(66) – इसलिए मैं शिव हूँ (69) 63–70

शब्दानुक्रमणिका 71–74

पीठिका

"वेदान्तबालबोध" में अवगत कराये गये मुख्य विषयों को इसमें किंचित् विस्तारपूर्वक लिखा गया है।"हम सब का परमार्थ हुआ आत्मा अद्वितीय है,नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला शिव ही है,हम वास्तव में संसारी नहीं है" यही इन पाँच श्लोंको में अवगत कराया गया विषय है – प्रथम श्लोक में देहादि अनात्मा है इसका कथन है : आगे के तीन श्लोकों में हम वास्तव में संसारी नहीं होने पर भी सुखदुःखों का अनुभव करते हुए से परमेश्वर से भिन्न हुए से हैं ऐसा भ्रान्ति से प्रतिभास रहा है। इसको रज्जुसर्प,स्वप्न,दर्पण में दिखने वाला प्रतिबिम्ब – इन तीन दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। अन्तिम श्लोक में हमारा स्वरूप नित्यमुक्त, शुद्ध, पूर्ण हुआ चैतन्यस्वरूप ही है,इसे अवगत कराया गया है। इस ग्रन्थ में शिव माने अवस्थात्रयातीत सबकी आत्मा हुआ परब्रह्म है, त्रिमूर्ति में एक हुआ शिव इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

विवरणकर्ता
(भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती)

भूमिका

अद्वैतपंचरत्नम् एक प्राचीन स्तोत्रात्मक वेदान्त प्रकरण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शंकरभगवत्पादजी द्वारा रचित है क्या,अथवा किसी अन्य द्वारा ? यह विषय ऐतिहासिकों के दृष्टि से वादग्रस्त है। किन्तु पूज्य सच्चिदानन्देन्द्र स्वामीजी ने अपने इस वेदान्तप्रवेशिका व्याख्यान में प्रस्थानत्रय भाष्यों को ही आधार रूप में स्वीकार किया है। अतः **मननगुणपरीतात्मा जिज्ञासुओं के लिए यह एक बहुमूल्य ग्रन्थ है।**

वेदान्तबालबोध (प्रातःस्मरणस्तोत्रम् की व्याख्या) के मुख्य विषयों का ही यहाँ युक्त्यनुभव द्वारा परिवर्द्धन किया गया है। अतएव इस व्याख्या में **अध्यासप्रक्रिया,सर्वसाक्ष्युपक्षेपप्रक्रिया एवं अवस्थात्रय प्रक्रिया** का विस्तृत वर्णन उपलब्ध हैं। अब हम इनकी समान्य चर्चा करें।

साधारणतः जिज्ञासुजनमानस में यह शंका होती रहती है कि आत्मा प्रमेय (विषय)नहीं है। अतः अप्रमेय आत्मा को वेदशास्त्र द्वारा कैसे समझ सकते हैं ? इसका परिहार यही है कि ब्रह्म (आत्मा) इस प्रकार है–ऐसा शास्त्र विषय करके नहीं समझाता है। आत्मा जिज्ञासु का स्वरूप है। अतः आत्मा विषय नहीं है ऐसा समझाकर जाननेवाला (ज्ञातृ),जानने योग्य(ज्ञेय),ज्ञान (प्रमाण) आदि कल्पित भेदों को मिटा देता है।

न हि शास्त्रं इदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयत् अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदं अपनयति।। (ब्रह्मसूत्रभाष्य 1–1–4)

व्यवहार दृष्टि से अवलोकन करने पर प्रमाणप्रमेय व्यवहार गलत है ऐसा वेदान्ती जन नहीं कहते हैं। जिस प्रकार शरीर मैं हूँ

यह ज्ञान देह व्यतिरिक्त आत्मा है इस शास्त्रीय ज्ञान होने तक प्रमाण है,उसी प्रकार आत्मा के अद्वितीयत्व का निश्चय होने तक प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यवहार में सत्यत्वबुद्धि रहती ही है। किन्तु वास्तविकता यह है कि चाहे कोई भी प्रमाण हो प्रमातृत्व के आश्रय के बिना अपने प्रमेय में प्रवर्तित नहीं होता है। इसके अलावा देह मैं हूँ इन्द्रिय मेरी है इस प्रकार के अध्यास के बिना कोई भी प्रमातृ नहीं बन सकता हैं। अतः प्रमातृत्व ही अध्यासपूर्वक होने के कारण प्रमातृत्व का अवलम्बन करके ही होने वाला प्रमाणप्रमेयव्यवहार भी आध्यासिक ही है। देखिए अध्यासभाष्य– **देहेन्दियादिषु..............तस्मात् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।**

वेदान्तगम्य परमार्थतत्त्व हमारी आत्मा ही है। वेद में आत्मा को अहं शब्द से कहने के कारण अहं ब्रह्मास्मि इस प्रतिपादन से आत्मा अहंप्रत्ययगम्य है ऐसा अज्ञ लोगों द्वारा भ्रमित होने की सम्भावना है। इसीलिए आत्मा में **साक्षित्व** का निर्देश है। यह साक्षीस्वरूप उपनिषदों में मात्र ज्ञात होने के कारण इस असंसारी आत्मा को **औपनिषदपुरूष** नाम से भी वेदान्ती लोग पुकारतें हैं।

.....साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।(श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.1)

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंज्ञिताः।

सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यं केनचित् क्वचित्।।(महाभारत–मोक्षधर्मपर्व)

साक्षी देशकालातीत है। अतः संख्या आदि, साक्ष्य में हो सकता है, साक्षी में नहीं। अतः अनेक साक्षी सम्भव नहीं । उस साक्षीरूप में शरीरादि दिखने के लिए परागदृष्टि ही कारण है। परागदृष्टि के लिए

जाग्रदवस्थाभिमान ही हेतु है। अतः प्रत्यग्दृष्टि प्राप्त्यर्थ वेदान्त में अनितरसाधारण **अवस्थात्रयविवेक** का भी उपदेश किया गया है। मुख्यरूप में **बृहदारण्यकोपनिषद्** में अवस्थात्रयप्रक्रिया द्वारा आत्मतत्त्व विवेचन उपलब्ध है। इसके सिवा **छान्दोग्य** एवं **माण्डूक्योपनिषद्** में भी अवस्थात्रय विचार के लिए अधिक प्राशस्त्य दिया गया है।

जो सम्पूर्ण प्रपंच के तत्त्व को निर्धारित करना चाहते हैं, उन्हे इस प्रपंच के एक भाग की अथवा एक अवस्था–विशेष की परीक्षा मात्र से तृप्त नहीं होना चाहिए। प्रपंच के समस्त आकारों को किंचिन्मात्र भी परित्याग नहीं करते हुए परीक्षण करना आवश्यक है। यदि मनुष्य अपने अनुभव के तत्व का निश्चय करना चाहता है तो केवल जाग्रद्रूप एक अवस्था के अनुभव का परिशीलन करना पर्याप्त नहीं है। जाग्रत् के अनुरूप स्वप्न,गाढ़निद्रा(सुषुप्ति) रूपी अन्य दो अवस्थाएँ भी विद्यमान हैं। उन दोनों अवस्थाओं के अनुभव को भी परिगणना में लेना चाहिए। इस पूर्णानुभव (सार्वत्रिकानुभव) का अनुसरण करके किया गया निर्णय ही तत्त्वज्ञान कहलाता है।

देश,काल दोनों केवल जाग्रत् और स्वप्न में प्रतिभासते हैं। सुषुप्ति में देश,काल है ही नहीं। अतः अवस्थात्रय विचार से लिये गये निर्णय किसी भी काल में या देश में उलटफेर होना असम्भव है। क्योंकि यह पूर्णानुभव पर आधारित है।

इस अवस्थात्रय–विचारमार्ग में सर्वप्रथम जिज्ञासु को इस विषय को मन में दृढ़ करना चाहिए कि मैं ही जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति को देखने वाला हूँ। इसके साथ **अवस्थाओं की वैशाल्यता** को भी समझना चाहिए,

मैं इस प्रपंच में रहते हुए अनेकों के साथ जाग्रत् का अनुभव कर रहा हूं,यह सामान्य जन की मति है। किन्तु वेदान्त कहता है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक रूप में प्रतिभासमान सम्पूर्ण प्रपंच हमारे जाग्रत् के ही अन्तर्गत है। अर्थात् हमारे भीतर के प्राण, इन्द्रिय,मन,बुद्धि,अहंकार;बाह्य गिरि, नक्षत्र,समुद्र से युक्त प्रपंच; इसके अलावा सूर्य–चन्द्र–नक्षत्रादि से युक्त प्रपंच; शास्त्रगम्य देवलोक, ब्रह्मलोक आदि भी जाग्रत् अवस्था के ही अन्तर्गत है।

दूसरा बिन्दु यह है कि **जाग्रत्,स्वप्न एवं सुषुप्ति में परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है।** जाग्रत्प्रपंच जाग्रदवस्था के एवं स्वप्नप्रपंच स्वप्नावस्था के अन्तर्गत है। इन दोनों में कोई भी अवस्था हो या कोई भी वस्तु दूसरी अवस्था में आ नहीं सकती। स्वप्न में पैर में लगे काँटे को जाग्रत् की सुई द्वारा निकाल नहीं सकते। जाग्रत् के गरीबी को स्वप्नावस्था के ऐश्वर्य से हटा भी नहीं सकते हैं। यद्यपि हमने व्यवहार में जाग्रत् स्वप्नों में कार्यकारण भाव की कल्पना की हैं, तथापि ये सभी अवस्थाएँ सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

तीसरा बिन्दु – **सार्वत्रिकानुभव दृष्टि द्वारा अवस्थात्रय का अवलोकन ।** जाग्रद्व्यवहार के लिए इन्द्रियानुभव,मानसानुभव ही पर्याप्त है। किन्तु प्रमातृप्रधान यह दृष्टि परमार्थ निर्णय के लिए सहायक नहीं। यहाँ तीनों अवस्थाओं को निष्पक्ष दृष्टि से देखने के लिए शास्त्रप्रधान सार्वत्रिकानुभव को ही आधार बनाना चाहिए।

चौथा बिन्दु – **व्यापक युक्ति का उपयोग**। केवल जाग्रदवस्था के लिए सीमित, जाग्रदभिमान से युक्त तर्क (युक्ति) का उपयोग नहीं करते हुए तीनों अवस्थाओं के लिए अनुकूल श्रुति अनुगृहीत तर्क का अनुभव के अंग

रूप में उपयोग करना चाहिए।

श्रुतिविनयनिधि भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्रजी ने इन सभी विषयों को अपने इस वेदान्तप्रवेशिका नामक व्याख्यान में उपयोग करके मुमुक्षु के लिए महद्उपकार किये हैं। आजकल अन्य लौकिक विद्याभ्यास के समान वेदान्त की पढ़ाई भी ONLINE चलने लगी है। गुरूशुश्रूषा,इन्द्रियनिग्रह आदि से रहित यह आधुनिक पठन–पाठन क्रम मुक्ति विषय में सहायक न बनते हुए केवल जीविका या कौतूहल शमन मात्र में सहायक बन गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साधनचतुष्टयवशानुगामी ही परमार्थ पथ में आगे बढ़ सकता है अन्य नहीं। इस विषय पर स्वामीजी ने (पृष्ठ 31–32) में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

बहुत दिन पहले की बात है। मैं अपने गुरूदेव (पूज्य स्वामी रामानन्द सरस्वती महाराज–ओंकारेश्वर) के पास बैठा था। गुरूदेव के साथ विरक्त शिरोमणि कृष्णानन्द जी महाराज भी विराजमान थे। सत्संग चल रहा था। तब एक विद्वान सन्त जी दर्शन करने आये। सत्संग के बीच में गुरूदेव ने प्रश्न पूछा अब आप शास्त्राध्ययन करके विद्वान हो गये हैं। आगे क्या करने का विचार है। सन्त जी ने स्पष्ट रूप में कहा–एक सुन्दर आश्रम बनाने का विचार है। अभी एक बड़े शहर में प्रवचन करके आया हूं। कल एक अन्य जगह पर प्रवचन है। शाम की ट्रेन पकड़ना है। वे फिर पाँच मिनट में ही चल दिये। मेरे गुरूदेव कृष्णानन्द जी की ओर देखकर मुस्कराए। फिर कहा – **साधु क्यों लक्ष्य से भटक जाता है ? साधु जब घर छोड़ता है तो ईश्वर के आधार पर ही छोड़ता है पर यदि आगे वह अपने लक्ष्य के विषय में सावधान न रहें, और बीच में ही आश्रम बनाने,प्रवचन करने,पढ़ाने इत्यादि में**

पड़कर लक्ष्य को भूल जाए तो उससे दूर चला जाता है। पाठशाला बनाने,पैसे इकट्ठे करने,भागवत कथा करने इन सब के लिए साधु बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब तो इसके बिना भी हो सकते हैं। साधु का एक ही कर्तव्य होता है,परमात्मचिन्तन। यदि वह इस कर्तव्य से भटक जाए तो उसका लक्ष्य छूट जाता है।

वाचक गण से प्रार्थना है कि पुस्तक में सम्भावित भाषा दोष या मुद्रण दोष के परिमार्जन पूर्वक गन्थ का अध्ययन करें। ग्रन्थ प्रकाशन में अनेक साधु महात्मा एवं भक्त जनों ने गुप्त या प्रकट रूप में सहायता की है। सबको नारायण स्मरण पूर्वक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

20 / 10 / 2021,
शरद् पूर्णिमा

सद्गुरू सेवा में
भिक्षु सुरेश्वरानन्द सरस्वती

अद्वैतपञ्चरत्नम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं

नाहंकारःप्राणवर्गो न बुद्धिः।

दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः

साक्षी नित्यःप्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ।। 1 ।।

रज्ज्वज्ञानाद्भाति रज्जौ यथाहिः

स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।

आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु –

र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्।। 2।।

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं

सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात्।

निद्रामोहात् स्वप्नवत् तन्न सत्यं

शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम् ।। 3 ।।

मत्तो नान्यत्किञ्चिदत्रास्ति विश्वं

सत्यं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम्।

आदर्शान्तर्भासमानेन तुल्यं

मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम् ।। 4 ।।

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो

देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः।

कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं

कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ।। 5 ।।

इति श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितमद्वैतपञ्चरत्नं सम्पूर्णम्।।

वेदान्तप्रवेशिका

1. आत्मानात्मविवेक

अनुबन्ध –

वेदान्त लोकान्तर में होने वाले फल के बारे में कथन नहीं करते हुए इस जन्म में ही प्राप्त करने योग्य अनुभव से सम्बन्धित शास्त्र होने पर भी अनेकों का इसमें मन नहीं लगता है। इसका कारण क्या है कि अनेकों को विचारप्रधान ग्रन्थ में रूचि नहीं होती है। जिन लोगों का मन विचार की और झुका है,उनमें अधिकांश लोगों के लिए वेदान्त में उक्त प्रमुख विषय क्या हैं? उनके परिवद्‌र्धनार्थ कथित गौण विषय क्या–क्या है, यह विवेक नहीं है। जो लोग विचार में रूचि ही नहीं रखते हैं,तादृश लोग वेदान्त के अधिकारी ही नहीं होने के कारण उनकी चर्चा हमें प्रकृत नहीं है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि जो वास्तव में वेदान्त तत्व को जानकर अनुभव में भी बैठाने के लिए प्रयास रत हैं,उनके लिए वेदान्त के प्रधान विषयों को चुनकर समझाने वाला एक प्रकरण आवश्यक है। इस आवश्यकता की परिपूर्ति के उद्धेश्य से ही श्री शंकर भगवत्पादजी ने **अद्वैतपंचरत्न** नामक एक छोटे से प्रकरण ग्रन्थ को लिखा है।उसके विवरण रूप में इस (वेदान्तप्रवेशिका) ग्रन्थ की रचना की गयी है।

वेदान्त के प्रधान विषय तीन हैं। 1. परमार्थसत्य अद्वितीय ब्रह्म ही है। 2. उसमें जीवत्व भी,जगत् भी कल्पित हैं। 3. परमार्थसत्यरूप ब्रह्म हम सब की आत्मा ही है। इन तीनों विषयों को भी यहाँ समझाया गया है।

जानकार लोगों का कहना है कि इन तीन विषयों को अनुभव में लाने के लिए **चार साधनसम्पत्** अत्यावश्यक हैं। नित्यानित्यविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग,शमादिषष्ट्कसम्पत्ति,मुमुक्षुत्व ये ही चार साधन हैं। अनित्य हुई अर्थात् कालवश में विद्यमान वस्तुओं का स्वभाव क्या है? नित्यरूप अर्थात् काल को भी उल्लङ्घन की हुई वस्तु यदि विद्यमान है तो वह किस प्रकार की है? इस विषय को विभाजित कर.समझााने की शक्ति ही **नित्यानित्यविवेक** है। इस लोक में अमुक् सुख का उपभोग करना है,परलोक में अमुक् सुख का उपभोग करना है,इस प्रकार की अभिलाषा से रहित होना ही **इहामुत्रफलभोगविराग** है। जिसका मन भोग में लगा है वह सर्वदा इन्द्रियार्थों के बारे में ही सोचता रहता है न कि परमार्थ को। इसलिए विचारशीलों को यह वैराग्य अत्यावश्यक है। इसके सिवा जिज्ञासु के मन में होने योग्य छः गुण हैं। शम,दम, उपरति,समाधान ,श्रद्धा, तितिक्षा। ये ही वे छः गुण हैं। इनकी विद्यमानता को **शमादिषट्कसम्पत्ति** नाम से पुकारते हैं। जिसमें ये छः सम्पत्ति विद्यमान है उनका मन योग्य संस्कार प्राप्त करके विचार के लिए आवश्यक सामर्थ्य से युक्त रहता है। इन तीनों के साथ **मुमुक्षुत्व** नाम की साधनसम्पत्ति भी होनी चाहिए। अब हम परमार्थसुख की स्थिति में नहीं रह रहे हैं। सबसे उत्कृष्ट हुआ एक सुख मनुष्य के लिए उपलब्ध होने की सम्भावना है– ऐसा शास्त्रद्वारा भी,बड़े लोगों के द्वारा भी हम सुन चुके हैं। इस वचन में असली भरोसा उत्पन्न होकर अब की संकटग्रस्त स्थिति से कब ऊपर उठकर

उस निरतिशय सुख को प्राप्त कर लूंगा ? इस प्रकार छटपटाना ही **मुमुक्षुत्व** है। वह जिसके मन को गृहीत कर रखा है, वे "वैसा सुखस्थान कौन सा है? उसके प्राप्त्यर्थ क्या करना पड़ेगा ? ऐसा अवश्य ही विचार मग्न होते हैं। परमार्थ तत्त्व ही सुख का उद्‌गम स्थान है,वह हमारी आत्मा ही है– इस प्रकार के उपदेश श्रवण करते ही मुमुक्षुओं के शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वे जरा सा भी आलसपन नहीं दिखाते हुए परमार्थ विचार में तत्पर हो जाते हैं ; उस विचार के लिए आवश्यक विवेकादियों का भी सम्पादन कर लेते हैं। कुल मिलाकर परमार्थ विचार के पहले ही यहाँ प्रोक्त चारों साधन अवश्य(मुमुक्षु में) विद्यमान होना चाहिए। वैसे लोगों के लिए मात्र विचार पूर्ण फलकारी होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो साधन सम्पत्ति से रहित हैं उनको इस ग्रन्थ से कोई प्रयोजन नहीं। इसके द्वारा उन लोगों को भी वेदान्त में विद्यमान विषयों को जानकर वास्तविक मुमुक्षुता सम्पादन करने की इच्छा जाग्रत् होने के लिए अवकाश है।

इस साधनचतुष्टय को आचार्यजी ने इस प्रकरण में सूचित नहीं किया हैं। क्योंकि यह ग्रन्थ साधनाप्रधान नहीं है,सिद्धान्त प्रधान है। जिन्होने साधनचतुष्टय को(जीवन में) समाहित किया हैं वैसे लोग प्रप्रथम करने योग्य आत्मानात्मविवेकरूप विचार को ही आचार्य जी ने यहाँ आरम्भ किया है। **(सर्वेष्टसिद्धि नामक ग्रन्थ में साधनचतुष्टय का वर्णन किया गया है।)**

हम परमशिवस्वरूप ही हैं, यह ज्ञान लोगों में उत्पन्न नहीं होने के लिए उनमें आत्मानात्मविवेक का अभाव ही कारण है। आत्मा का अर्थ मैं (स्वरूप),जो मैं नहीं वह अनात्मा है। आत्मा,अर्थात् अपना स्वरूप क्या है ?

अनात्मा अर्थात् मुझ से भिन्न है,वह क्या है ?—इस विषय को विभक्त करके जानना ही **आत्मानात्मविवेक** है। यह विवेक नहीं होने के कारण लोग देह इत्यादि को ही मैं मानकर बैठे हैं। " भूलोक इस प्रपंच का एक भाग है। उस भूलोक में एक जगह पर कुछ वर्ष पहले अमुक् पिता—माता द्वारा मैने जन्म को प्राप्त कर लिया है; अमुक् विद्याभ्यास पूर्ण करके अमुक् वृत्ति का अवलम्बन कर लिया है । पत्नी, बच्चे,बन्धु इत्यादि से समन्वित परिवार वाला हूँ; अन्य लोगों के समान कुछ वर्ष तक जीवित रहकर आयु समाप्त होने पर मर जाउंगा" यही ऐसे लोगों का मनोभाव है। वैसे लोगों के लिए "मैं नित्यशुद्ध भी,मुक्त भी हुआ परमेश्वर हूँ" ऐसी बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ? ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् के एक भाग में तीन दिन रहकर ओझल होने वाला मैं ईश्वर कैसे हो सकता हूँ ? ऐसी शंका उन लोगों में होती है। इसलिए इस मिथ्याज्ञान निवारणार्थ मुमुक्षु द्वारा करने योग्य आत्मानात्मविवेचन के क्रम को अवगत कराने के लिए इस प्रथम श्लोक का आगमन हैं।

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं
नाहंकारःप्राणवर्गो न बुद्धिः
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः
साक्षी नित्यःप्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ।। 1 ।।

प्रतिपदार्थ :— अहं—मैं, देहः — शरीर, न—नहीं, इन्द्रियाणि —इन्द्रिय, न—नहीं, अन्तरङ्गम् —मन, न—नहीं, अहंकारः—अहंकार, न —नहीं, प्राणवर्गः —प्राणों का समूह, न—नहीं, बुद्धिः—बुद्धि, न—नहीं, दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः —पत्नी, बच्चे,खेती, धन इत्यादि से दूर हूँ, अहं—मैं, साक्षी—सबको साक्षात्

देख रहा, नित्यः– नित्य हुआ, प्रत्यगात्मा–अन्तरतम आत्मा,शिवः– शिव हूँ।

1. मैं देह नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, अहंकार नहीं हूँ, प्राणों का समूह नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ। मैं पत्नी, बच्चे, खेती, धन– इत्यादि से दूर हूँ। सबको साक्षात् देख रहा नित्यरूप प्रत्यगात्मा शिव ही मैं हूँ। विवरण – यहाँ जनसाधारण द्वारा "मैं" रूप में भावना की गयी अनात्माओं का ही एक–एक करके निराकरण किया गया है।

मैं देह नहीं; इन्द्रिय नहीं

कुछ लोग देह अथवा इन्द्रियों को मैं समझ गये हैं; बाहर दृश्यमान पत्थर,मिट्टी इत्यादि में चेतन नहीं है। पत्थर आदि अपने आप चलते–फिरते भी नहीं; उनमें निश्वास,उच्छ्वास,रक्तचलन आदि चेतन के लक्षण भी नहीं है। उनमें आंख भी नहीं दिखती है, कान भी श्रवणगोचर नहीं। इन सब कारणों से पत्थर,मिट्टी, लकड़ी आदि और हमारे बीच में अन्तर है। हम चलने–फिरने वाले **चेतन** हैं। वे (स्वयं) हिल भी नहीं सके ऐसी **जड़ वस्तु** है। ऐसा बहुत लोग समझते हैं। और कुछ लोग थोड़ा अधिक विचार करके पत्थर, मिट्टी, आदि निर्जीव वस्तु हैं,हम सजीव वस्तु हैं; निर्जीव वस्तु ही कुछ परिवर्तन को पाकर सजीव देहेन्द्रियों के रूप को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए वस्तु के सार दृष्टि से अवलोकन करने पर देहेन्द्रिय भी,बाह्यवस्तु भी एक ही है। तथापि बाह्यवस्तुओं को समझने की शक्ति, उनको कार्यार्थ उपयोग करने की शक्ति भी हम में है। इसलिए हम बाहर की वस्तुओं को 'वह' 'यह' कहते हैं। देहेन्द्रियों के समूह को "मैं" कहते हैं – ऐसा अभिप्राय करते हैं।

परन्तु इन दोनों का भी अभिप्राय ठीक नहीं है। यदि देहेन्द्रियों

का समूह ही 'मैं' नामक पदार्थ है तो देह के अवयवों में भी, और प्रत्येक इन्द्रिय में भी मैं बुद्धि नहीं होनी चाहिए। किन्तु मैं चलता हूँ,मैं स्पर्श करता हूँ,मैं सूंघता हूँ,मैं देखता हूँ इस प्रकार प्रत्येक अवयव में एवं प्रत्येक इन्द्रिय में भी मैं बुद्धि हो जाना अनुभव में है। और एक विषय। देह में अनेक अवयव हैं, इन्द्रिय भी अनेक हैं। इनमें प्रत्येक मैंरूप वस्तु हो तो अनेक इन्द्रियवालों को (अनेक) मैं हूँ अथवा 'हम' इस प्रकार की बुद्धि क्यो नहीं होती है ? मैं नामक पदार्थ एक ही है ऐसी भावना हम में जोर से जड़ पकड़कर विद्यमान है न ! ऐसा क्यो ?

चाहे देह के भाग हो,इन्द्रिय हो,या उनके समूह– इनको मैं पदार्थ के रूप में भावना करने के लिए और एक बाधा है। वह क्या है कि देह में भी और इन्द्रिय में भी जब–तब परिवर्तन होते ही रहते हैं। यदि देहादि ही मैं हूँ तो इन परिवर्तनों को भी 'मुझ में ही हुए है' ऐसा हम सर्वदा व्यवहार करना चाहिए था। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मेरा नेत्र मंद पड़ गया है,मेरा पैर लंगड़ा गया है– इस प्रकार भी व्यवहार करते हैं। यदि आँख,पैर हम ही है तो 'मेरा नेत्र' ऐसा कहने पर मेरा मैं– इस प्रकार के अपार्थ के वचन का उपयोग किये जाने के समान हो जाता है न? इस संदर्भ में एक और अनुभव को हम मन में ला सकते है । हम हाथ पैर द्वारा बाह्यविषयों को ग्रहण कर सकते हैं, धक्का भी दे सकते हैं। अतः ये विषय हम से भिन्न है ऐसा कोई भी सुलभता से समझ सकता है न? इसी प्रकार हमारे शरीर के किसी भी भाग को काटकर अलग कर सकते हैं। किन्तु इससे हम ही अलग हो गये हैं ऐसी भावना नहीं होती है। शरीर में हुई फुंसी को शस्त्रचिकित्सक द्वारा काटने पर,जमीन में गिरे उस शरीर भाग में मैं बुद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार

बलगम,कान का मैल,आँख का मैल,लार,पसीना,बाल,नाखून आदि शरीर के भागों को हम समय–समय पर शरीर से अलग करते ही रहते हैं; जमीन पर उनको देखकर हम असह्य भावना भी करते हैं, वहीं मैं हूँ ऐसा अभिमान कदापि नहीं करते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के विचार में भी निर्णय कर सकते हैं। कैसे पूछा तो 'मेरा नेत्र,मेरा कान,मेरी नासिका ऐसा तत्–तत् इन्द्रियों को हम पृथक् रूप में समझते हैं। और भी गहराई से देखा जाए तो आँख,कान,नाक यही इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रियां उनमें कार्य करती रहती है; किन्तु आँख,कान, नाक आदि **इन्द्रियगोलकों** के अनुरूप दर्शन,श्रवण,घ्राण के साधन हुई उन इन्द्रियों को भी हम,हमसे पृथक् करके ही समझते हैं। इसके सिवा नेत्र,कर्ण,नासिका इत्यादि में इन्द्रियों का पाटव मंद पड़ने पर भी अथवा पूर्ण रूप से अवरूद्ध होने पर भी हमने ही उन परिणामों को प्राप्त कर लिया है ऐसा कोई विश्वास नहीं करता हैं। इसलिए इन्द्रिय भी हममें विद्यमान ''मैं'' रूप वस्तु नहीं है ऐसा निश्चय होता है।

अन्त में यही निर्णय हुआ कि देहेन्द्रिय अनेक हैं,'' मैं ''तो एक ही है; देहेन्द्रिय भिन्न–भिन्न परिवर्तन को प्राप्त करते रहते हैं; तब भी मैं वैसा का वैसा ही हूँ; देहेन्द्रिय जाने जा रहे हैं,मै उनको जानने वाला हूँ। अतएव देहेन्द्रिय बाह्य पत्थर मिट्टी लकड़ी के समान विद्यमान भौतिक वस्तु ही है, वे **जड़वस्तु** ही हैं। उनमें से एक भी मैं नहीं हूँ, उनको जानने वाला चेतनवस्तु ही मैं हूँ।

यहाँ एक **शंका** सिर उठा सकती है; यदि देह इन्द्रिय चेतन नहीं; वे पत्थर,मिट्टी के तुल्य जड़ पदार्थ ही है तो उनमें प्रतीयमान चेतन के लक्षणों की क्या गति है ? विषयों को समझना,लेना उनको छोड़कर दूर जाना

आदि चेतन सम्बन्धी लक्षण देहेन्द्रियादियों में दृष्टिगोचर होते हैं न?पत्थर,मिट्टी आदि में अविद्यमान ये लक्षण देहेन्द्रियों में कहाँ से आये? इसका **समाधान** यही है कि इनमें चेतन के चिह्न वास्तव में नहीं है। रेलगाड़ी का इन्जन दौड़ता है,चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी और आकर्षित करता है; सूक्ष्मदर्शक अति सूक्ष्म वस्तुओं को दिखाता है; किन्तु इन सब लक्षणों से उनको चेतनवस्तु के रूप में कोई भी समझते हैं क्या ? देहेन्द्रियों में कितने भी चलन हो, चाहे कितनी भी शक्ति हो, ये अपने चलन एवं शक्ति को भी स्वयं के लिए उपयोग करने वाले चेतन नहीं है; इनका उपयोग करने वाले चेतन हैं। देहेन्द्रिय हमारे हैं; हम इनका उपयोग करते हैं। इसलिए हम चेतन हैं, वे जड़वस्तु ही हैं। इन्द्रियों में चेतनता है ऐसा समझना भारी गलती है। क्योंकि हम इन्द्रियों को जानते हैं, वे विषय हुए हैं। सूक्ष्मदर्शक द्वारा सूक्ष्मवस्तुओं के निरीक्षण करने के अनुरूप इन्द्रियरूपी साधन द्वारा बाह्य विषयों को हम जान रहे हैं। इसलिए इन्द्रिय जड़ पदार्थ हैं, हमारे लिए करण हैं; हम ही उनके द्वारा जान रहे चेतन हैं।

इस प्रकार देह हो या इन्द्रिय हमारे भीतर विद्यमान मैंरूप पदार्थ नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। मुख्य रूप में जाने जा रहे देहेन्द्रिय, जाननेवाला मैं नहीं है इस युक्ति प्रबल बल हो गया है। किन्तु देहेन्द्रियों को जानने के लिए हमारे पास मनरूप एक साधन है। वही सब को जानता रहता है। इसलिए उसी को 'मै नामक वस्तु है'ऐसा क्यों नहीं कह सकतें हैं ? ऐसी **शंका** उत्पन्न होना सहज है। यह शंका भी युक्त नहीं है क्योंकि–

मैं मन नहीं,अहंकार नहीं।

मैं मोटा हूँ,गौर हूँ,युवक हूँ, देखता हूँ,सुनता हूँ आदि व्यवहार होने के कारण भी; मेरी देह,मेरे नयन,मेरे कान आदि ज्ञान होते रहने के कारण भी; देह आदि उस ज्ञान के विषय बनकर भिन्न होने के नाते भी जिस प्रकार देहादि हम नहीं है यह सुस्पष्ट होता है; उसी प्रकार **मेरा मन** ऐसा व्यवहार होने से भी मन मुझ से पृथक् ही होना चाहिए। मन के द्वारा मैं ही जान रहा हूँ न कि मन खुद जान रहा है। पूर्वोक्त सूक्ष्म दर्शक के दृष्टान्त को यहाँ भी अन्वय कर सकते हैं। जिस प्रकार सूक्ष्मवस्तुओं को जानने के लिए सूक्ष्मदर्शक एक करण(साधन) है; उसी प्रकार मन भी एक करण है। इन्द्रिय **बहिःकरण** हैं; बाह्वविषयों को समझने के लिए आवश्यक करण हैं; मन **अन्तःकरण** है, आन्तरिक ज्ञानार्थ साधन भूत करण है। करण जड़ रूप साधन मात्र है, उसका उपयोग करने वाले हम ही चेतन हैं। इसके अतिरिक्त मन इधर–उधर दौड़ता रहता है। उसका और इन्द्रियों का भी सम्बन्ध होने मात्र से हमें उसके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। इस हेतु ही हम लोग कई बार शब्द को सुनने पर भी,वस्तुओं को देखने पर भी 'क्या बोले आप'? 'मुझे ठीक से समझ में नहीं आया; कोई आकर चला गया लगता है, मुझे ठीक से पता नहीं लगा' ऐसा कहते हैं। तत्–तत् संदर्भों में हमारे मन दूसरी ओर चलायमान था। इस कारण ही हमें शब्द अथवा दृश्य का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाया। इस से यही निर्धारित होता है कि चंचल मन अलग है, उसके नटखटपन को जान रहा 'मैं' अलग है।

ठीक है। ''मैने जान लिया,मैने देखा,मैने सुना'' आदि रीति से प्रत्येक व्यवहार में भी मैं,मैं रूप में ज्ञान हो रहा है न, कम से कम वह तो हमारा

स्वरूप है क्या नहीं ? यदि वही हमारा स्वरूप है तो 'मैं देह में रहकर मन द्वारा जान रहा हूँ,देहेन्द्रिय द्वारा व्यवहार करता हूँ,देह प्रपंच के एक भाग में विद्यमान है, लोगों का इस प्रकार भावना करना ठीक ही है न? फिर यह भावना भी गलत है''मैं नित्यशुद्धमुक्त परमेश्वर ही हूँ'' यही समुचित भावना है ऐसा पूर्व में कथन किया गया न? वह कैसे ठीक होगा? इस प्रकार का आक्षेप ऊपर उठना स्वाभाविक है न ? इसका **समाधान** यही है कि हम व्यवहार करते समय 'मैं', 'मैं' इस प्रकार जो प्रतिभासता है वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। उपर्युक्त अन्तःकरण ही इस रूप में भी हमारे अन्तर में प्रतीत होता रहता है। 'मैं इन्द्रिय द्वारा इसको जान रहा हूँ' इस व्यवहार में जाननारूप क्रिया करने वाला अन्तःकरण के परिणाम को वेदान्ती **''मन''** नाम से कहते हैं; मैंरूप में उनके लिए कर्तृरूप में स्थित होने वाले परिणाम को **अहंकार** नाम से पुकारते हैं। कर्तृकरणरूप से प्रतिभासना – इस एक तारतम्य को छोड़कर मन और अहंकार में किञ्चिन्मात्र भेद नहीं है। दोनों अन्तःकरण के परिणाम मात्र हैं। अतएव जिस प्रकार मन हम से पृथक् है उसी प्रकार 'मैं' रूप अहंकार भी पृथक् ही है।

अहंकार हमारे स्वरूप से पृथक् है, इसको समझने के लिए कुछ संगतियों को लक्ष्य में रखना चाहिए। जिस प्रकार मन यदा कदा व्यवहार में हमें गोचर नहीं होता है,उसी प्रकार अहंकार भी गोचर नहीं होता है। ध्यान से देखा जाए तो हम सर्वदा बाहर के विषयों के चिन्तन में ही डूबे रहने के कारण जब तक चाहकर लक्ष्य में लाये बिना हमें मैं (अहंकार) प्रतिभासता ही नहीं । जो तत्त्वविचार में लगे है केवल वे ही ''मैं'' ''यह''इस प्रकार विभक्त करके इस ''मैं'' को अपने ज्ञान के लिए गोचर बना(विषय बना) लेते हैं।

अन्य के लिए तो "मैं" गोचर ही नहीं होता है। जब हमें गाढ़निद्रा लग जाती है तब तो "मैं" का अता –पता ही नहीं रहता है। तथापि गाढ़निद्रा में हमारा स्वरूप ही नहीं रहता है ऐसा कोई भी नहीं समझता है। इससे यह निश्चय होता है कि जाग्रत्–स्वप्न में मात्र प्रतिभासते हुए हमारे व्यवहार के लिए साधनभूत "मैंरूप" अहंकार भिन्न है,हमारा स्वरूप भिन्न है।

मैं बुद्धि नहीं हूँ

अन्तःकरण के लिए अहंकार,मन के अलावा **बुद्धि** नामक एक रूप और भी है। बाहर के विषयों के ज्ञान को इन्द्रिय समर्पण करने पर उनको एक–एक करके जानना मन का कार्य है। मन इस ज्ञान को जोड़ कर बुद्धि को अर्पण करने पर बुद्धि " यह इस प्रकार का है" – ऐसा निश्चय करती है; तब अहंकार "यह ज्ञान मुझे हो गया, यह इस प्रकार का है– ऐसा मैने समझ लिया" ऐसा अभिमान करता है। तब हमें विषयों का ज्ञान से सुख या दुःख उत्पन्न होता है। वे सुख दुःख हमारे अन्दर ही होने के कारण उनके अनुभव के लिए और समझने के लिए भी अन्तःकरण ही साधन है। कुल मिलाकर बुद्धि भी मनोहंकार के समान साधन मात्र होने के कारण एवं हमें विषयरूप में समझ में आने के कारण से भी वह हमारे स्वरूप से अलग ही है ऐसा सिद्ध हुआ।

अन्तःकरण में होने वाले मन,बुद्धि,अहंकाररूप विपरिणाम; सुख दुःख,आशा,क्रोध,भय,लज्जा आदि विपरिणाम भी **वृत्ति** कहलाते हैं। मन, बुद्धि,अहंकार आदि चेतन सम्बन्धित वृत्तियाँ हैं;सुख, दुःख आदि विषयों के अनुभव से सम्बन्धित **वेदना** नामक वृत्तियाँ हैं। ये सभी वृत्तियाँ अन्तःकरण में ही होते रहने के कारण और अन्तःकरण साधन मात्र होने के कारण भी वह

जिसके लिए साधन है, वह मेरा स्वरूप उससे भी और उसकी वृत्तियों से भी पृथक् है; वे एक भी मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा विवेकी को निश्चय करना चाहिए।

मैं प्राणों का समूह नहीं

इस लोक में कुछ लोग यह भावना रखते हैं कि देहेन्द्रिय हम नहीं है; मन,बुद्धि,अहंकार भी हम नहीं। इन सब को काम में लेने वाले हम हैं। उदाहरण के लिए जब मैं चाहता हूँ तब हाथ उठाऊंगा, नहीं चाहता हूँ तो नीचे रखूंगा; मुझे जिसकी आवश्यकता है उस वस्तु को पकड़ता हूँ, नहीं चाहता हूँ तो छोड़ देता हूँ। मेरे लिए जो जरूरी है उस विषय पर चित्त लगाकर विचार करता हूँ, जो नहीं चाहिए उस पर ध्यान ही नहीं देता हूँ;निद्रा में अहंकार एवं मन का भी विलयन करता हूँ अथवा वे इधर–उधर नहीं घूमें वैसे रोककर एक तरफ धारण कर लेता हूँ। इस प्रकार देहेन्द्रियादि जिसके आधीन होकर कार्य करते है वह वस्तु ही मैं हूँ ।

यह अभिप्राय सही नहीं है। क्योंकि देहेन्द्रियों को कार्य में लगाने की शक्ति का नाम **प्राण** है। मैं ही उस प्राण का आश्रयदाता हूँ। पूर्वोक्त अहंकार मनोबुद्धि जिस प्रकार ज्ञान से सम्बन्धित हैं,उसी प्रकार प्राण से भी सम्बन्धित हैं। "मैं इसको जानता हूँ" इसमें " मैं "अहंकार है जानना मन, जानने का निश्चय करने वाली बुद्धि है ऐसा हम जिस प्रकार निश्चय किये हैं,उसी प्रकार प्राण द्वारा होनेवाले देहादिव्यापारों में भी निश्चय कर सकते हैं। कैसे ? पूछा तो–मैं अमुक् कार्य को करता हूँ" यहाँ अहंकार मैंरूप कर्तृभाव का वहन करता है, मन कर्म का संकल्प करता है, करना चाहिए ऐसा बुद्धि निश्चय करती है। इस रीति में कार्य का निश्चय होने के पश्चात् ही प्राण कार्य करता है। अहंकार आदि अनात्मा हैं अर्थात् हमारा स्वरूप नहीं ऐसा

पूर्व में ही निश्चय कर चुके हैं। इसलिए इनकी पृष्ठभूमि में कार्य करने वाला प्राण भी अनात्मा ही,मैं नहीं हैं ऐसा अपने आप सिद्ध होता है।

जाग्रत् में प्राण अपने कार्य को संकल्पपूर्वक करने के सिवा, संकल्प रहित भी(कार्य) करता रहता है। श्वास लेना,दिल धड़कना, रक्त का परिचालन,पित्त आदि रसों का निर्माण,मल–मूत्रों को बाहर फेंकना आदि व्यापार व्यक्त रूप में हमारे संकल्प के बिना ही लगातार चलते रहते हैं।

इस प्रकार यह प्राणशक्ति विविध प्रकार से कार्य करने के कारण उसमें प्राण,अपान,व्यान,उदान,समान नामक पाँच **वृत्तियाँ** विद्यमान हैं ऐसा कतिपय ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। इन प्राणवृत्तियों को प्राणभेद नाम से भी पुकारना देखा जाता है। किन्तु देहेन्द्रियादियों का सम्बन्ध जिस जाग्रदवस्था में विद्यमान है,उसमें हमें इन प्राणों का सम्बन्ध हैं ऐसी ऊहा भी हम कर सकते हैं। किसी भी द्वितीय वस्तु से सम्बन्ध रहित हमारी गाढ़निद्रा समान अवस्था में हमें किसी भी काम–काज का सम्बन्ध ही नहीं रहता है–यह बात स्पष्ट है। सच है कि हमारे जागते रहने पर अन्यलोग सोते हुए देख कर हमारी निद्रा में भी हमारी जानकारी के बिना ही (प्राणादि) व्यापार हम में होते ही रहते हैं ऐसा अनुमान कर सकते हैं । किन्तु जाग्रत् में हमें निद्रा समझ में नहीं आती है, केवल ऊहा मात्र है। साक्षात् अनुभव में आनेवाली हमारी निद्रा में प्राणादि का अता–पता भी नहीं दिखता है। ऊहा (अनुमान) से भी अनुभव ही तत्त्वनिर्णय के लिए अधिक बलवत्तर साधन होने के कारण हमारे स्वरूप के साथ प्राण का अथवा उसके लिए आश्रयरूप अन्तःकरण का सम्बन्ध तिलमात्र भी नहीं है–यही सही निर्णय है।

कुलमिलाकर प्राणशक्ति अनेक होने से भी, परिणाम को प्राप्त होते

रहने से भी,हमारे लिए विषय रूप में समझ में आने के कारण से भी,गाढ़निद्रा में अत्यन्त रूप में नहीं होने से भी वे भी हम से पृथक् हुए जड़ स्वरूप ही है; उन सबको जाननेवाला चेतन हुआ हमारा स्वरूप उन सबसे भिन्न ही है ऐसा सिद्ध होता है।

मैं पत्नी,बच्चे,खेती,धन इन सबसे दूर हूँ।

इस प्रकार देहेन्द्रिय हो,मनोहंकार बुद्धि हो,या प्राण हो हमारा स्वरूप नहीं है ऐसा अनुभव के आधार पर विचार करने से स्पष्ट हुआ। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारी ममता के लिए कारणरूप पत्नी,बच्चे आदि वस्तु भी हमारे स्वरूप के साथ सम्बन्धित नहीं है। क्योंकि जब तक अनात्मा हुए देहेन्द्रियादि में मैं रूप भावना रहती है तभी तक पत्नी,बच्चे,खेती,मकान,पैसा इनमें 'मेरा है' ऐसी भावना दृढ़ रूप में विद्यमान रहती है। देहात्मबुद्धि से संयुक्त अविवेकी जनों में कुछ तो इन दारापत्यादि ही हम है–यहाँ तक अभिमान रखते हैं। वैसे लोग यदि अपनी पत्नी,बच्चे सुखी है तो स्वयं को सुख मिल गया; उनके लिए दुःख हुआ तो खुद को दुःख हुआ ऐसी भावना करते हैं। खेती,मकान,धन,सम्पत्ति आदि के ढेर लगने पर "अब में मजबूत हो गया, मुझे चिन्ता करने की जरूरत ही नहीं" ऐसा कहते हैं; ये सब नष्ट होने पर "हाय! मेरा सब कुछ बर्बाद हुआ"! ऐसा कहने लगते हैं ! किन्तु देहात्मबुद्धि मिथ्याज्ञान मात्र है; देह,प्राण,मन,बुद्धि, अहंकार ये कोई भी मेरे स्वरूप के साथ वास्तव में सम्बन्धित नहीं है ऐसा अब तक उपदिष्ट विचारचक्र द्वारा जिसने निश्चय कर लिया हैं उसके लिए देह से सम्बन्धित पत्नी,बच्चे इत्यादि का सम्बन्ध कितना दूर हुआ! इन पत्नी, बच्चों आदि हम से सम्बन्धित हुए से प्रतीत होना सच है; किन्तु स्वप्न में भी हमें ऐसा ही प्रतिभासता है न ! स्वप्न में दृश्यमान

पत्नी,बच्चे आदि उस काल में हमारे ही है ऐसा प्रतिभासने पर भी वे वास्तव में हम से सम्बन्धित नहीं हुए हैं ऐसा हम निश्चय करते हैं न ? इसी प्रकार यहाँ दृश्यमान सम्बन्ध केवल प्रतीति मात्र है, वह सत्य नहीं ऐसा ही निश्चय करना चाहिए।

मैं साक्षी हूँ,नित्य हूँ,प्रत्यगात्मा हूँ।

अब एक और प्रश्न उत्पन्न होता है। 'मैं','मैं' इस प्रकार हमारे द्वारा व्यवहृत देह आदि में एक भी हम नहीं है तो, एवं मैं रूप अहंकार भी हम नहीं है तो,इन सब का भी परित्याग किया हमारा स्वरूप कौन–सा है ? 'वह है' – इसका निश्चय भी कैसे करें ?

जो इस प्रश्न को पूछ रहे हैं; वे बाहर के अनात्मा की ओर ही प्रबल दृष्टि रखें हैं ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि देह,इन्द्रिय,प्राण,मन,बुद्धि, अहंकार ये सभी विषय हैं, जानने योग्य हैं; इनको जानने वाला हमारा स्वरूप इन सब से अलग है ऐसा पुनः पुनः अवगत करा चुके हैं। ऐसा होने पर जाने जा रहे देहादि एक भी मैं नहीं ऐसा कहने मात्र से जानने वाला मैं ही नहीं है – ऐसा कैसे सिद्ध होगा ?

आक्षेप –देहेन्द्रियों में चेतनता नहीं है इसको स्वीकार करने पर भी अन्तःकरण में चेतनता विद्यमान है इस बात को हम सभी को अङ्गीकार करना चाहिए; क्योंकि अन्तःकरण का उपयोग किये बिना हमें कदापि ज्ञान हुआ ही नहीं। अतः हमारे लिए ज्ञान के आश्रयभूत मैं नामक अहंकार को छोड़कर उससे अलग एक स्वरूप विद्यमान है ऐसा कहने से उसके अस्तित्व का निर्धारण कैसे करें? उसमें चेतनता है इसका निश्चय भी कैसे करें? आपका कहना सच है कि मैं रूप अहंकार गाढ़निद्रा में नहीं है; किन्तु तब हमें ज्ञान भी नहीं रहता है। उस अनुभव के द्वारा भी अन्तःकरण से भी बड़ा कोई भी एक तत्व हमें गोचर हुआ है ऐसा सिद्ध नहीं होता है न ?

समाधान –

सच है कि हमें अन्तःकरण में चेतनता विद्यमान है ऐसा दिखता है। किन्तु हम अन्तःकरण को जानते हैं। उसको हम अपने अनुभव के गोचर करा लेते हैं। इसलिए अन्तःकरण भी विषय ही है; इससे यह सिद्ध हुआ कि उसको भी जान रहा हमारा स्वरूप पृथक् है। अहंकार वस्तुओं को जानने के कारण उसमें ही चेतनता है–ऐसा यदि कहे तो,इन्द्रिय विषयों को जानने से उसमें ही चेतनता है ऐसा क्यों नहीं निर्णय कर सकते हैं? इन्द्रिय अन्तःकरण के लिए गोचर होती हैं; उनका जानना,नहीं जानना अन्तःकरण पर ही अवलम्बित है,उनमें विद्यमान चेतन वास्तव में अन्तःकरण का ही है,यदि ऐसा कहें तो अन्तःकरण भी हमारे स्वरूप के लिए गोचर होता है,वह जानना,नहीं जानना दोनों को जानने वाला हमारा स्वरूप उससे पृथक् ही है,उस स्वरूप का ही अवलम्बन कर ज़ान रही अन्तःकरण में विद्यमान चेतनता वास्तव में हमारे स्वरूप का ही है ऐसा सिद्ध होता है। तब यही निष्कर्ष बनता है कि चैतन्य ही हमारा स्वरूप है।

हमारा यह स्वरूपभूत चैतन्य **साक्षी** है,अर्थात् समस्त अनात्माओं को साक्षात् देखनेवाला है। {**1. टिप्पणी–** मन,बुद्धि–इन शब्दों को संकल्पादियों को करनेवाली,निश्चय करने वाली अन्तःकरण वृत्ति के अर्थ में उपयोग करते हैं; एवं तद् वृत्तिवाला अन्तःकरण इस अर्थ में भी उपयोग किया जाता हैं। इसके अलावा(केवल) अन्तःकरण अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। इस ग्रन्थ में हम ने मन शब्द का अन्तःकरण अर्थ में ही अधिक उपयोग किया है।} मन,इन्द्रिय आदि विषयों को सीधे नहीं जानते

हैं। किसी एक की सहायता मिलने पर ही जान लेते हैं। उदाहरण के लिए मन,एक सुन्दर दृश्य को जानना चाहा तो उसके लिए रूपेन्द्रिय की सहायता चाहिए। उस इन्द्रिय के लिए नेत्र नाम गोलक होना चाहिए। नेत्र के लिए प्रकाश की सहायता चाहिए। इसी प्रकार अन्य सभी विषय बीच में कुछ न कुछ व्यवधान रखकर ही जानने योग्य हैं। किन्तु यह हमारा स्वरूप अन्तःकरण अथवा समस्त अनात्माओं को इस प्रकार नहीं जानता है। किसी भी करण की अपेक्षा के बिना सीधा अपने विषय को प्रकाशित करता है।

इस हेतु वह नित्य है,नित्य का अर्थ काल के बन्धन से रहित। काल; हमारे जाग्रत् में हमारी बुद्धि में प्रकाशित हो रहा कोई एक तत्त्व है। समस्त वस्तुएं काल के अन्तर्गत ही प्रतिभासित होने योग्य है; अतः उनको काल के बन्धन वाली अनित्यवस्तु मानना पड़ेगा। किन्तु काल सहित समस्त अनात्माओं को अपने चैतन्य द्वारा प्रकाशित कर रहे हमारे स्वरूप को काल किसी भी बन्धन के अन्तर्गत नहीं कर सकता। इसलिए यह चैतन्य काल के बन्धन में विद्यमान वस्तुओं के समान परिणाम को प्राप्त नहीं करता है। इस कारण से इसको **कूटस्थनित्य** भी कहते हैं। कूट माने पर्वत के समान विद्यमान पदार्थ के ढ़ेर। जिस प्रकार पर्वत बड़ा भयंकर चक्रवात आने पर भी चलायमान नहीं होता है, उसी प्रकार हमारे यह स्वरूपभूत चैतन्य अपने स्वरूप में किंचित्मात्र भी परिवर्तन (न्यूनातिरेक) नहीं करते हुए विद्यमान है। रूढ़ि में नित्य शब्द के लिए और एक अर्थ भी है। जो स्वयं परिणाम को प्राप्त करते हुए विद्यमान रहने पर भी वही यह है ऐसी बुद्धि उत्पन्न करते हुए काल में ही विद्यमान रहता है उसको भी हम नित्य कहते हैं। उदाहरण के लिए यह हमारी भूमि बहुकाल से ज्यों की त्यों है ऐसा हमनें विश्वास

किया है। किन्तु कई हजार वर्ष पहले जिस प्रकार यह भूमि विद्यमान थी उसी प्रकार अब नहीं है। कई हजार वर्ष के बाद अब जैसी है वैसी ही नहीं रहेगी। तथापि भूमि रूप में वह उतने हद तक नित्य कहलाती है। भौतिकविज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो द्रव्य का कदापि नाश नहीं होता है। वह परिणामों को प्राप्त कर सकता है,किन्तु उसका सार नष्ट नहीं होता है। इस मतानुसार हमारी भूमि का किसी न किसी काल में सम्पूर्ण रूप में नाश होने पर भी इसका साररूप द्रव्य अन्य किसी रूप में विद्यमान रहता है। इसलिए भूमि अथवा उसका साररूप द्रव्य परिणाम को प्राप्त करने वाली नित्यवस्तु कहना पड़ेगा। वैसी वस्तुओं का **परिणामिनित्य** नाम है। किन्तु हमारे स्वरूप हुआ चैतन्य का नित्यत्व इस प्रकार का नहीं। क्योंकि वह काल में विद्यमान ही नहीं। परिणाम को भी नहीं प्राप्त करता है। वह **निर्विकार** अर्थात् किसी भी परिवर्तन को प्राप्त नहीं करने वाली **कूटस्थनित्य** वस्तु है।

इसके सिवा यह चैतन्य ही प्रत्यगात्मा है; हम में अन्तरतम रूप में विद्यमान हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसका पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि कभी कभी हम देह को मैं करके व्यवहार करते हैं। कभी–कभी इन्द्रियों को मैं करके व्यवहार करते हैं। परन्तु देह की सत्ता इन्द्रियज्ञान पर अवलम्बित होने के कारण इन्द्रियों को देह से भी अन्तःसार अर्थात् हमारा वास्तविक स्वरूप है ऐसा मान सकते हैं। इसी प्रकार विचार करते जानेपर प्राण,मन,बुद्धि अहंकार–ये इससे भी अधिकार्थ में हमारा आन्तरिक स्वरूप बन जाते हैं। क्योंकि उनमें पीछेवाले से आगेवाला अधिक सत्तावाला है,आगेवाले का अस्तित्व ,उससे भी आगेवाले दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर है ऐसा ज्ञात होता है। इस प्रकार विचार करते हुए हम 'मैं' रूप में प्रतिभास रहे

अहंकार पर्यन्त पहुंच सकते हैं। किन्तु इस रीति से अहंकार तक पहुंचने पर भी हमारे वास्तविक आत्मा अर्थात् स्वरूप की उपलब्धि नहीं हुई। क्योंकि उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट है कि अहंकारादिदेहान्त तक जो कुछ विद्यमान है उन सब को अपने चैतन्य द्वारा प्रकाशित कर रहे साक्षी ने इस अहंकार को भी सत्ता प्रदान की है। इसलिए यह साक्षीचैतन्य ही हमारी अत्यन्त अन्तरतम आत्मा है; परमार्थ दृष्टि से उसको ही हमें 'मैं' कहना चाहिए। साक्षीचैतन्य का प्रकाश ही अल्प स्वल्प प्रमाण में अहंकारादि पर भी पड़ने के कारण वे भी 'मैं' रूप व्यवहार के विषय हुए हैं। गौर से देखा जाए तो अहंकारादि हमारी आत्मा नहीं हैं। वे गलत फहमी से हमारे आत्मा हुए हैं। इसलिए अहंकार आदि के भीतर विद्यमान होते हुए उन सब के लिए आत्मभूत साक्षी चैतन्य ही हमारा **परमात्मा** है। अर्थात् भ्रान्ति से समझ गये सभी आत्मा से भी अधिक,वास्तविक अर्थ में आत्मा हुआ **प्रत्यगात्मा** है।

मैं शिव हूँ–

जिसने इस रीति से आत्मानात्मविवेक को करके अपने प्रत्यगात्मा का दर्शन कर लिया है,उसके लिए हम जगत् के भीतर विद्यमान हैं ऐसी भ्रान्ति नहीं होती है। जगत् के भीतर दृश्यमान देहादि ही हम हैं ऐसी भ्रान्ति भी नहीं होती है; हमारे सदृश अनेक लोग इस जगत् में विद्यमान हैं और उनमें शत्रु,मित्र,उदासीन आदि भाव है ऐसी भ्रान्ति भी नहीं होती है। इन सब के आधारभूत,इनके किंचित् भी संस्पर्श रहित शिव स्वरूप ही हम हैं। ऐसा उन्होने अनुभव द्वारा देख लिया हैं। **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। (श्वेताश्वतर उपनिषत् 6–11)"** "एक देव ही समस्त प्राणियों में छिपा हुआ

है। वह सर्वव्यापक है,समस्त प्राणियों के लिए अन्तरात्मा है,कर्मों के स्वामी है,सर्व प्राणियों में निवास कर रहा है, साक्षी है,चैतन्यस्वरूप है,केवल है,गुणसम्बन्ध रहित है" ऐसा श्रुति में उक्त ईश्वर और हम भी एक ही है इस प्रकार का महत् ज्ञान मात्र ऐसे महात्माओं को उत्पन्न होता है।

शिव का अर्थ – मंगलस्वरूप। हम सब का आत्मा हुआ परमेश्वर अत्यन्त कल्याणस्वरूप वाला है; उसमें किसी भी प्रकार का अमंगलस्वरूप न्यूनता है ही नहीं। वह हमेशा कल्याण का आश्रयदाता है। लोक में हम जिस–तिस की मंगल रूप में भावना की है; वे सभी उसके ही आश्रय में विद्यमान है। क्योंकि वही सबका आत्मा है; जो उसका स्मरण करते हैं उनके सभी इष्टार्थ–पूर्ण हो जाते हैं; क्योंकि हमारे वास्तविक आत्मस्वरूप को प्राप्त कर वहीं स्थायी होने पर ही हम कृतकृत्य होते हैं। इन सब कारणों से उस परमेश्वर को श्रुतिस्मृतियों में **शिव** नाम से कहा गया है। इस श्लोक में वर्णित आत्मस्वरूप को अनुभव द्वारा जिन्होने देख लिया है वे ही हम उस शिव स्वरूप वाले हैं ऐसा निश्चय करके निश्चिन्त हो जाते हैं।

2. जीवत्वभ्रान्तिका परिहार

यदि हम वास्तव में शिवस्वरूप ही है,फिर 'हम जीव है' ऐसी भावना क्यों हुई ? शिव के स्वरूप में अविद्यमान सुख दुःख आदि हमारे में विद्यमान से क्यों प्रतीत होते हैं ? वे वास्तव में है ही नहीं तो सब में विद्यमान हैं ऐसा क्यों सभी लोगों को प्रतीत होते हैं ? मैं जीव ही नहीं,जीवत्व ही कल्पित है ऐसा कहने वाले वेदान्ती भी अन्य लोगों के समान ही व्यवहार करते रहने के कारण 'जीवत्व चला जाता है' इस बात का क्या प्रमाण है? ऐसी शंका हमारे में चन्द लोगों के लिए हो सकती है। इसके परिहारार्थ यह आगे का श्लोक आया है।

रज्ज्वज्ञानाद्भाति रज्जौ यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ।। 2 ।।

प्रतिपदार्थः रज्ज्वज्ञानात् – रस्सी को नहीं समझने के कारण, रज्जौ–रस्सी में,यथा– जैसे,अहिः–सर्प,भाति–प्रतिभासता हो वैसे, स्वात्माज्ञानात्– अपने आत्मा को न जानने के कारण, आत्मनः–आत्मा में, जीवभावः– जीवत्व (प्रतिभासता है),हि–क्योंकि,आप्तोक्त्या– जानकारों के कथन से, भ्रान्तिनाशे–भ्रान्ति हट जाने पर, सः – वह,रज्जुः– रस्सी हो जाती है(इसी प्रकार),देशिकोक्त्या–गुरूजी के वचन से,अहं –मैं,जीवः – जीव, न–नहीं, अंह–मैं,शिवः–शिव हूँ।

2. रस्सी को नहीं समझने के कारण रस्सी में जैसे सर्प दिखता है वैसे ही अपने आत्मा को नहीं जानने के कारण आत्मा में जीवत्व प्रतिभासता है। जानकार लोगों के यह रस्सी है ऐसा समझने पर वह रस्सी ही हो जाती है इसी प्रकार सद्गुरू के उपदेश द्वारा मैं जीव नहीं शिव ही हुआ हूँ।

रज्जु सर्प का दृष्टान्त –

हमारे वास्तविक स्वरूप को नहीं समझने के कारण हम जीव हैं ऐसी भ्रान्ति हुई है। हमारे वास्तविक स्वरूप को समझते ही तुरन्त यह भ्रान्ति हट जाती है।इसके लिए एक दृष्टांत दे सकते हैं। मन्द प्रकाश में रास्ते में गिरी रस्सी को देखकर यह साँप है ऐसी भ्रान्ति हो जाना हम सबके अनुभव में है न ? रज्जु का निजस्वरूप न जानने के कारण ही वह भ्रान्ति हुई न ? भ्रान्तिकाल में सर्परूप में ही दिखने पर भी यह रस्सी है इस प्रकार का अनुभव आते ही तुरन्त वह भ्रान्ति हट जाती है। इस दृष्टान्त में भ्रान्ति द्वारा प्रतीत हुए सर्प के अनुरूप दार्ष्टान्तिक में जीवत्व प्रतिभास रहा है यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

अब स्वल्प विस्तार से दृष्टान्त का विचार करें। रस्सी में भ्रान्तिवशात् 'सर्प' है ऐसा प्रतीत हुआ पदार्थ कौन सा हैं ? वह रस्सी से पृथक्रूप में विद्यमान था क्या ? नहीं। क्योंकि सम्यक् ज्ञान होते ही यह रस्सी ही है, सर्प नहीं–ऐसा अनुभव होता है। वास्तविक सर्प ही हमें भ्रान्ति समय में दिखा था ऐसा कोई नहीं मानते हैं; क्योंकि भ्रान्ति हटते ही वह सर्प कहाँ गया इसका निर्णय करना किसी से भी होता नहीं। इस प्रकार निश्चय करने के लिए कोई विवेकी प्रयास भी नहीं करते हैं। अमुक् व्यक्ति रज्जुसर्प काटने से मर गया ऐसा कभी देखा भी नहीं,सुना भी नहीं। रस्सी के ही ऊपर

पैर रखकर सर्प के ऊपर पैर रख दिया, उसके काटने के कारण विष चढ़ गया है—इस प्रकार की झूठी भावना से कोई मर भी सकता है;किन्तु उस मृत्यु के लिए एक वास्तविक सर्प कारण है ऐसा हम कोई भी नहीं मानते हैं। उस काल में हमारी मनोभावना ही सर्प रूप में परिणमित हो गयी ऐसा कोई तर्क किया तो भी हम नही मानेंगें; क्योंकि मेरा मन सर्पाकार में परिणमित हो गया था, ऐसा अनुभव किसी को भी नहीं होता है। 'यहाँ सर्प था ही नहीं' यह रस्सी ही है'—इस प्रकार हम में होनेवाला ज्ञान ही भ्रान्तिकाल में किसी भी प्रकार का वास्तविक सर्प नहीं था इस के लिए पर्याप्त है। भ्रान्तिकाल में रस्सी ही सर्प बन गया था ऐसा सोचना भारी अविवेक है; क्योंकि यदि कोई पदार्थ अपने—अपने स्वरूप को छोड़कर भिन्न भिन्न पदार्थों के स्वरूप को अपने आप प्राप्त कर लेते हैं तो लोक में कोई भी व्यवहार नहीं चलेगा। उस संदर्भ में दूध से दही बनेगा ऐसा नियम नहीं बनेगा। दूध से दही ही बनेगा यह नियम भी नहीं होगा। (तब) कभी कभी पानी भी दही बन सकता था, जामन मिला दूध भी जल बन सकता था। ऐसा होने पर लोगों को किसके भरोसे पर व्यवहार करना पड़ेगा! रस्सी में सर्प का अंश भी थोड़ा कुछ चिपका हुआ था, वह हमारी भ्रान्ति काल में सर्प बनकर दिखाई दिया ऐसा स्वीकार कर सकते है क्या ? यह वचन किसी को भी स्वीकार्य नहीं होगा। अमुक् पदार्थ में अमुक् पदार्थ के अंश मिले हुए होने के कारण भ्रान्ति द्वारा कभी न कभी प्रतिभास सकता है ऐसा कोई भी विद्वान् परीक्षा करके सिद्ध नहीं कर सकता है। उस काल में एक सर्प उत्पन्न होकर भ्रान्ति समाप्त होते ही मर गया—ऐसा कहना तो अनुभव के लिए अत्यन्त

विरूद्ध वचन है। कहाँ का साँप ? केवल भ्रम हुआ था ऐसा है न,–हम रस्सी को समझने पर कहते हैं। रस्सी को देखा,सर्प का स्मरण किया इसलिए सर्प दिखा – ऐसा कह सकते हैं क्या ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि स्मरण मात्र से सामने सर्प विद्यमान सा दिखने के लिए कोई कारण ही नहीं । इसके अलावा सर्प की स्मृति मात्र से रस्सी क्यों अदृश्य होनी चाहिए ? इसके लिए इस पक्ष मे उत्तर नहीं मिलेगा। 'सर्प का स्मरण किया' इसके बदले ' सर्प को देखा' ऐसा ही अनुभव होना इस कल्पना के विरूद्ध हो जाता है, कुल मिलाकर इस दृष्टान्त में वास्तविक सर्प नहीं है, उसकी स्मृति भी नहीं। तथापि सर्प को देखा ऐसा भ्रान्ति में अनुभव होता है न। इस पहेली को कैसे सुलझावे ?

इसके लिए हमारा उत्तर यही है कि दृष्टान्त में सर्प उत्पन्न होना मिथ्या है; रस्सी को रस्सी रूप में ठीक से जो नहीं समझे हैं उनके लिए मन्दान्धकार में वह सर्प सदृश दिखता है, उसमें वास्तव में कोई सर्प नहीं है,भ्रान्ति में सर्प उत्पन्न भी नहीं होता है। सटीक ज्ञान होते ही वह जाता भी नहीं। "रस्सी को ही सर्प समझ बैठा था" यह ज्ञान ही इस सिद्धान्त को समर्थन दे रहा है। इसलिए सर्प है यह कोरी भ्रान्ति है, रस्सी ही सत्य है–केवल इतना ही कह सकते हैं,इसको छोड़कर भ्रान्ति से हुआ सर्प के कारण को खोजने जाना युक्त नहीं है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में भी समझना चाहिए। हम जीव है यह कोरी भ्रान्ति है। हमारे वास्तविक स्वरूप को नहीं जानने के कारण यह भ्रान्ति हुई है, वास्तव में हमें कोई जीवत्व नहीं हुआ है। हम सर्वदा शिवस्वरूप ही है यही सम्यग्ज्ञान है।

(**टिप्पणी**–कुछ अधुनातन वेदान्तियों का कहना है कि–अविद्या अथवा अज्ञान रूप कोई एक शक्ति आत्मा का आश्रय करके विद्यमान है। व्यवहार

में विद्यमान प्रत्येक पदार्थ को भी इसके एक एक अंश ने आवृत कर रखा है। तत्–तत् पदार्थों का ज्ञान होने से वह आवरण हट जाता है। रस्सी, भ्रान्ति से सर्प रूप में इसलिए दिखती है कि तब रस्सी में विद्यमान अज्ञान का अंश सर्प रूप में परिणमित है; देखने वाले के अज्ञान का अंश सर्प के ज्ञान रूप परिणमित है।

इस वाद में कथित अविद्या किसी के भी अनुभव में नहीं है। इसका प्रतिपादन शांकरभाष्य में भी नहीं किया गया है। आत्मा को अविद्या ने आवृत किया है इसको पहले ही ये वादीजनों ने अंगीकार किया है। ये वादी जनों द्वारा कहा गया रज्जुसर्प सर्वसम्मत नहीं होने के कारण वह प्रकृत के लिए सही दृष्टान्त नहीं हो सकता है। यह वादग्रस्त विषय होने के कारण,सामान्य जिज्ञासुओं के लिए रचित इस ग्रन्थ में उसका विचार नहीं किया गया है। **मूलाविद्यानिरास** नामक संस्कृत ग्रन्थ में इसका विमर्श किया गया है।)

यहाँ एक **आक्षेप** है–ज्ञान का विषय तो रस्सी है, किन्तु सर्प दिखाई दिया ऐसा कहना ठीक नहीं है; नियम यही है कि जो दिखता है वही विषय है। अतः यहाँ कोई एक सर्प ही दिखता है ऐसा स्वीकार करना ही उचित मालूम होता है। ऐसा नहीं करते हुए अनुभव का तिरस्कार करके 'प्रतिभासना एक,विषय दूसरा' ऐसा मानने पर मनुष्य को देखने पर नदी,पर्वत को देखने पर शहर,हाथी को देखने पर मुर्गी का चूजा भी दिख सकता है। किन्तु इस प्रकार का अनुभव कहीं भी नहीं देखा गया है।

इसका **समाधान** सर्वदा जैसे विषय है वैसे अनुभव होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। कैसे ? पूछा जाए तो–एक हाथ को शीत जल में,दूसरे हाथ

को गरम पानी में डालें । तदनन्तर दोनों हाथों को एक साथ निकालकर कुन–कुने गरम पानी में डुबोने से, जो हाथ ठण्डे पानी में रखा गया था उस हाथ के लिए पानी गरम मालूम होता है, गरम पानी में रखे हाथ के लिए पानी शीत मालूम होने लगता है। एक ही जल एक ही काल में भिन्न भिन्न प्रमाण की औष्णता वाला होना अत्यन्त असम्भव है। अतएव वह जल एक ही उष्णता के प्रमाण में विद्यमान होने पर भी भ्रान्ति के कारण भिन्न–भिन्न प्रमाण में विद्यमान सा प्रतिभासित हुआ ऐसा कहना पड़ेगा। जैसा दिखता है वैसा विषय भी होना चाहिए इस प्रकार हठ करने वालों के लिए वास्तव में एक ही जल में भिन्न–भिन्न प्रमाण की औष्णता थी ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। वह तो किसी को स्वीकार्य नहीं। इसके सिवाय सम्यक् ज्ञान,मिथ्याज्ञान इस प्रकार दो ज्ञान होते हैं; सम्यक् ज्ञान में वस्तु ज्यों की त्यों दिखती है उल्टे ज्ञान में दूसरी प्रकार से दिखती है ऐसा सभी लोगों के अनुभव में है। जब बात ऐसी है, फिर 'वह ठीक नहीं, वास्तव में ऐसा होना चाहिए' इस प्रकार सार्वत्रिक अनुभव के विरूद्ध कल्पना करना कदापि ठीक नहीं है। इसलिए रस्सी ही सर्प के रूप में मिथ्याज्ञान से प्रतिभासित होती है ऐसा कहना ही उचित है।

आक्षेप :– जिस समय सर्प प्रतीत हुआ तब सर्प ही विद्यमान था ऐसी भावना करना क्यों गलत है ? यदि वह गलत है तो डोरी(रस्सी) प्रतिभासने के समय डोरी थी ऐसा कहने के लिए क्या आधार है ?

परिहारः– इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं। भ्रान्ति से यह सर्प ही है ऐसा दिखने पर भी सही ज्ञान होते ही यह तो रस्सी ही है इसमें सर्प कदापि नहीं था, सर्प दिखने जैसा अनुभव भ्रान्ति मात्र है ऐसा स्पष्ट रूप में अनुभव हो

जाता है। (किन्तु) रस्सी के ज्ञान में ऐसा नहीं। 'यह रस्सी नहीं' इस प्रकार का अनुभव किसी को भी नहीं होता है। इसलिए वह सटीक अनुभव है, बाधित होनेवाला ज्ञान कदापि वास्तविक नहीं होता है।

आक्षेप :– एक भ्रान्ति दूसरी भ्रान्ति से कैसे चली जाती है ? उदाहरण के लिए दूर से एक मनुष्य,जमीन में एक दरार विद्यमान है ऐसी भावना करके उसके समीप जाने पर यह तो एक सूखी काड़ी (लकड़ी) ही है ऐसा निश्चय करता है; किन्तु और भी पास जाकर देखने पर यह तो रस्सी ही है ऐसा निर्णय करता है। इस संदर्भ मे काड़ी के ज्ञान ने दरार के ज्ञान को बाधित किया था। किन्तु वह भी सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ न ?

समाधान :– जो बाधित हो गया वह वास्तविक नहीं था,इस के लिए आपकी उक्ति भी एक दृष्टान्त ही बनती है। जो ज्ञान बाधित करता है वह हमेशा वास्तविक होना चाहिए वैसा नियम नहीं होना सच है; किन्तु जो कदापि बाधित नहीं होता है उस विषय को लोग मानते ही नहीं ऐसा कहना नहीं बनता है। उदाहरण के लिए रस्सी में प्रतीत हो रहा सर्प एक के लिए भ्रान्ति के कारण सर्प होने पर भी अन्य सभी को रस्सी रूप में ही दिखती है। उसकी परीक्षा करने के पश्चात् जो उसको सर्प रूप गलत समझा था उसको भी वह रस्सी रूप में ही दिखने लगती है। इस प्रकार व्यवहार में रस्सी एवं रस्सी का ज्ञान भी कदापि बाधित नहीं होने के कारण वह सम्यक् ज्ञान ही है ऐसा लोगों ने स्वीकार किया है। इस स्वीकृति का अनुसरण करके रस्सी के ज्ञान को सत्य मानकर यहाँ रस्सी के सर्प (रज्जुसर्प) को दृष्टान्त रूप में दिया गया है; इसको छोड़कर रस्सी वास्तव में अबाध्य है ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है। परमार्थ रूप में केवल आत्मा ही सत्य है।

उसमें जीवत्व भी,जगत् भी कल्पित है इस प्रकार कथन करने वाले वेदान्तियों के लिए सर्प का आधार हुई रस्सी वास्तव नहीं है ऐसा कहने से कुछ भी हानि नहीं है। उनके मत में समस्त प्रपंच ही मिथ्या होने के कारण उसके भीतर विद्यमान रस्सी भी मिथ्या ही है। तथापि रस्सी **व्यावहारिक सत्य** है। उसमें भ्रान्ति से प्रतिभास रहा सर्प वैसा नहीं है। यही तारतम्य इन दोनों के बीच विद्यमान है।

आत्मा को नहीं जानने के कारण जीवत्व प्रतिभास रहा है।

अब दार्ष्टान्तिक की ओर निर्गमन करें। हमारी आत्मा का स्वरूप क्या है इसकी जानकारी नहीं होने से हमें जीवत्व हुआ है। अर्थात् जिस प्रकार रस्सीरूप में न जानने के कारण अन्धेरे में लोग उसको सर्परूप में गलत समझ लेते हैं,उसी प्रकार हमारे शिवस्वरूप को नहीं जानने के कारण हमें उसमें जीवत्व प्रतिभास रहा है।

यहाँ दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में काफी हद तक साम्यता है। क्योंकि आत्मा को जीव रूप में समझने वाला अपने को देह,प्राण,मन,बुद्धि, अहंकार इन सब का सम्बन्ध विद्यमान है ऐसी भावना करता है। रस्सी को नहीं जानते हुए उसमें फण,पूँछ,वक्रत्व इत्यादि की कल्पना करके सर्प समझकर भयभीत होने वाले अविवेकी के समान यह भी अपने लिए देहादि के सम्बन्ध की कल्पना करके मैं जन्म लेता हूँ ,बड़ा होता हूँ , संकट को अनुभव करता हूँ , मरूँगा, पुनः जन्म ले लूँगा आदि प्रकार से स्वयं में संसारित्व का आरोपण करके व्याकुल हो रहा है। वास्तव में देख जाए तो रस्सी में सर्प का एक अंश भी विद्यमान नहीं, उसी प्रकार सब के लिए साक्षीभूत चैतन्यस्वरूप आत्मा में जीवत्व का संस्पर्श तनिक भी नहीं है। भलीभाँति परीक्षा करके

प्राप्त किये गए रस्सी के ज्ञान से सर्प की भीति को जिस प्रकार त्याग देता है, उसी प्रकार शिवत्व के ज्ञान से अपने में स्थित संसारित्व रूप सम्पूर्ण अनर्थों का जिज्ञासु निवारण कर लेता है।

आक्षेप :– "मैं जीव हूँ" इस प्रकार का ज्ञान यदि भ्रान्ति है तो "मैं शिव हूँ" यह ज्ञान भ्रान्ति नहीं है इसका क्या प्रमाण है ? जीवज्ञान विचार द्वारा जैसे मिथ्या हुआ; वैसे ही मैं शिव हूँ यह ज्ञान भी मिथ्या होने की सम्भावना विद्यमान है न ?

परिहार :– वैसे अंदेशों के लिए अवकाश है ही नहीं। क्योंकि मैं जीव हूँ यह ज्ञान कोई एक अवस्था में प्रतिभास रहे देहादियों के सम्बन्ध को परमार्थरूप में विश्वास करने के कारण हुआ है। किन्तु शिवरूप ज्ञान किसी भी अवस्था के सम्बन्ध से रहित,काल के बन्धन से रहित कूटस्थनित्य हुए चैतन्य के अनुभव से हुआ है। काल के अधीन विद्यमान वस्तु के विषय में वह कदापि अपने स्वरूप को परिवर्तित कर सकती है इस प्रकार का संदेह हो सकता है; (किन्तु) कालातीत परमार्थस्वरूप में वैसा परिवर्तन सम्भव है ऐसा कौन कह सकता है ?

सद्गुरू के उपदेश से शिवस्वरूप को समझना

यहाँ एक और शंका शेष है; मै जीव नहीं हूँ ऐसा कहनेवाले वेदान्ती भी अन्य जनों के समान ही व्यवहार कर रहे है। इसलिए जीवत्व हटकर शिवत्व आता है इस के लिए क्या प्रमाण है ?

इस शंका का परिहार यह है कि रस्सीसर्प दृष्टान्त में रस्सी में सर्प पहले से ही नहीं था; भलीभाँति समझ आने के अनन्तर वास्तव में वह गया भी नहीं ऐसा स्पष्टरूप में कह चुके हैं। इसी प्रकार जीवत्व भी भ्रान्ति

ज्ञान से हुआ है वह वास्तव में है ही नहीं, शिवस्वरूप ही परमार्थ है ऐसा भी कहा है। ऐसा होने पर जीवत्व चले जाना शिवत्व आ जाना इसका क्या अर्थ होगा ? हम सर्वदा शिवस्वरूप ही है,यही परमार्थ है।

हम शिवरूवरूप हैं इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि हमारा स्वरूप हमारे लिए कदापि लुप्त नहीं हैं। मन्दान्धकार में जिसने रस्सी को सर्प समझ लिया उसके प्रति जानकार लोग 'यह रस्सी है, सर्प नहीं–ऐसा कहने से तत्क्षण ही वह सर्प है यह संशय हट जाता है परन्तु उस दृष्टान्त में अन्य लोगों द्वारा विषय को अवगत कराने के बाद भी उसको स्पर्श करके या प्रकाश डालकर ही यह रस्सी ही है ऐसा निश्चय करना पड़ता है। हमारे आत्मस्वरूप के विषय में इस प्रकार नहीं है उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरा कुछ भी नहीं चाहिए। वह स्वतः चैतन्यप्रकाशस्वरूप है। ऐसा होने के कारण सदगुरू द्वारा तुम देहादि नहीं हो परशिवस्वरूप हो–इसका उपदेश करना ही पर्याप्त है। इतने मात्र से जिज्ञासु को पिछले श्लोकों में उक्त देहादियों को साक्षात् देखने वाला साक्षी चैतन्य ही मैं हूँ ऐसा ज्ञान हो जाता है।

अपने को वेदान्ती कहनेवाले बहुत सारे लोग 'मैं देहादि नहीं हूँ, शिवस्वरूप हूँ ऐसा कहते हुए देखा जाता है। किन्तु यह तो उनका शास्त्र एव सम्प्रदाय में विद्यमान विश्वास मात्र है, इससे अधिक नहीं। किन्तु सद्गुरू के अनुग्रह से आत्मस्वरूप को जिन्होने वास्तव में जान लिया है उनका विचार इस प्रकार का नहीं हैं। श्रद्धावेदान्तियों के अनुरूप ये संसार में अतिअभिमान वाले नहीं होते हैं; अतएव उनके लिए अन्य के समान शोकमोह नहीं होते हैं। इतना नहीं तादृश ज्ञानीजन जिस को उपदेश देते

हैं,उनको भी तत्त्वज्ञान होकर शोक मोह हट जाते हैं। ऐसे ही मनमानी शास्त्र के वचन कहनेवालों को यहाँ उदाहरण रूप में स्वीकार नहीं करें। स्वयं तत्त्व को समझकर अन्य को भी निश्चय कराने का सामर्थ्य रखते हैं,एवं तत्त्व साक्षात्कार कराने के कार्य में निरत हुए वैसे महनीयों को (उदाहरण रूप में) स्वीकार करना चाहिए। वैसे लोगों के **आप्त** नाम हैं। जैसे रज्जुसर्प एवं उसके डर को भी हटाने के लिए रज्जुतत्त्व को जान चुके आप्तों का वचन प्रमाण बनता है वैसे ही नित्यसिद्ध हमारे शिवस्वरूप को समझाकर संसार की भीति को हटाने के लिए परमार्थ के स्वरूप को जाननेवाले सद्गुरूओं का आप्तवचन प्रमाण होता है।

आक्षेप :– कई लोग 'तुम ईश्वर ही हो,जीव नहीं' इस प्रकार बड़ों के उपदेश को सुन चुके हैं। किन्तु उनके लिए संसारित्व की भ्रान्ति दूर हुई नहीं न ?

उत्तर :– इसका उत्तर भी पिछले प्रश्नों के परिहार में ही समन्वित है। क्योंकि जिस प्रकार तत्वबोधन करनेवालों को उसको अनुभव द्वारा जानकर फिर बोधन करना चाहिए ऐसा नियम है, उसी प्रकार उसके श्रवण करने वाले भी आवश्यक योग्यता से समन्वित होंना चाहिए। इसके अलावा कैसे भी हो दो एक बार वेदान्त के वाक्यों को कान में डालना वेदान्त श्रवण नहीं है। लोक में कोई एक विषय के तत्त्व को समझने के इच्छुकजन जैसे अपने समस्त संदेह से निवृत्त होकर उसको स्वयं भलीभाँति समझने तक उसका ही विचार करते रहते हैं; उसी प्रकार सद्गुरू के उपदेश को आदरपूर्वक श्रवण करके,उसके अभिप्राय को भलीभाँति पर्यालोचन कर मन में धारण करना आवश्यक है।

यह रस्सी है ऐसा जानकार लोगों के कहने पर भी वह सर्प ही

है इस प्रकार का मिथ्याज्ञान जिसमें प्रबल है वह उसकी ओर दृष्टि ही नहीं डाले तो रज्जु (रस्सी) ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसके समान(एक तरफ) वेदान्त वाक्यों का श्रवण करना,(दूसरी तरफ) प्रपंच सत्य ही है इस ज्ञान को बल देने वाले विचारों को भी मन में भरते रहना इस प्रकार बर्ताव करनेवालों को वेदान्त श्रवण का वास्तविक फल कदापि मिलनेवाला नहीं है। उन लोगों के कान में वेदान्तवाक्य थोड़ा कुछ प्रमाण में पड़ा है तो वह कालानुकाल में कुछ न कुछ प्रयोजन कर भी सकता है; किन्तु सद्यःफल रूप आत्मसाक्षात्कार इस प्रकार के श्रवण से कदापि होनेवाला नहीं है। हम शिवस्वरूप है यह परमार्थ होने के कारण ज्ञान मात्र से ही वह प्राप्त होना निश्चित है; किन्तु ज्ञानोत्पत्ति के लिए आवश्यक श्रद्धा,तत्परता,इन्द्रियनिग्रह, गुरूसेवा,तत्त्वविचार आदि का अवलम्बन्न जिसने नहीं किया है उसे ज्ञान कदापि मिलने वाला नहीं है। अतः जो मुमुक्षु हुआ है वह **साधनसम्पत्ति** से युक्त होकर सद्गुरू के श्रवण करने से फलकारी आत्मज्ञान अवश्य ही उपलब्ध होता है ऐसा विश्वास करना चाहिए।

3. जगद्भ्रान्ति का परिहार

हम अद्वितीय शिवस्वरूप ही हैं इस ज्ञान के लिए केवल जीवत्व ही बाधा नहीं, अपितु हमारे लिए दृश्यमान जगत् भी इस ज्ञान के लिए रोड़ा बना हुआ है। यदि हम अद्वितीय चैतन्य स्वरूप ही हैं तो जड़वस्तुओं से समन्वित यह जगत् कैसे आया, यह सोच शिवभावना के लिए विघ्नरूप आतंक है। हमारे सरीखे अनेक जीव यहाँ विद्यमान है; वे सभी हमारे साथ में इस जगत् में जीवन यापन कर रहे हैं; हमारे ही समान उनमें भी सुखदुःख प्राप्त होते रहते हैं। यह जीव अनेकत्व कैसे हो गया ? जीव चैतन्यस्वरूप है इस बात को कैसे भी हो हम मान सकते है; किन्तु जीव के लिए गोचरित हो रही,जीव के लिए प्रिय–अप्रिय रूप में प्रतिभास रही, जीव की उपयोगिता के अनुरूप उपयोग में आनेवाली परतन्त्ररूप में विद्यमान जड़वस्तु भी चैतन्यरूप ही है ऐसा कैसे जान सकते हैं ? ऐसी शंका हममें से अनेक को पीड़ा देती रहती है। इसलिए इस शंका के परिहार के रूप में दूसरे एक दृष्टान्त से युक्त आगे के इस श्लोक को प्रारम्भ किया है।

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं
सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात् ।
निद्रामोहात् स्वप्नवत् तन्न सत्यं
शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम् ।। ३ ।।

प्रतिपदार्थः– असत्यं–सत्य नहीं हुआ,इदं–यह,विश्वं–समस्त प्रपंच,सत्यज्ञानानन्दरूपे–सच्चिदानन्दरूप हुआ, आत्मनि–आत्मा में, निद्रामोहात्– निद्रा से उत्पन्न मोह से, स्वप्नवत्–स्वप्न दिखने के

समान,विमोहात्– भ्रान्ति द्वारा, आभाति–प्रतिभास रहा है, तत्–इसलिए,न सत्यं–सत्य नहीं, अहं–मैं, शुद्धः–निर्मल भी, पूर्णः–अपरिमित(माप के अन्तर्गत नहीं आनेवाला),नित्यः–नित्य भी, एकः–केवल एक मात्र,शिवः–शिव हूँ।

3. यह असत्यरूप समस्त प्रपंच भी निद्रामोह से स्वप्न दिखने के समान मिथ्याज्ञान द्वारा प्रतिभास रहा है। इसलिए यह सत्य नहीं। मैं शुद्ध भी पूर्ण भी नित्य भी एक भी हुआ शिव हूँ।

विवरण

रज्जुसर्प दृष्टान्त के विषय में शंका

पूर्व श्लोक में कथित रज्जुसर्प के दृष्टान्त को स्वीकार करने पर कुछ संदेह उत्पन्न होते हैं। उस दृष्टान्त के आधार पर ईश्वर में जीवत्व कल्पित है ऐसा मानने पर ये निम्नलिखित आक्षेप उपजते हैं।

1. रस्सी,एवं सर्प भी हमारे द्वारा देखे हुए पदार्थ हैं। इसलिए रस्सी को मन्दान्धकार में देखकर वह रस्सी है ऐसा न जानने पर हम में पहले से ही विद्यमान सर्पज्ञान के संस्कार से " यह सर्प हैं " ऐसा भ्रम उत्पन्न होना सम्भव है। किन्तु यदि हम अद्वितीय शिवस्वरूप ही है तो संसारित्व के संस्कार हो,या वह ऊपर उठने से होनेवाली भ्रान्ति हो कैसे हो सकंता है ?

2. दृष्टान्त में पहले वास्तविक एक सर्प का अनुभव हुआ है। उसके संस्कार से सर्प की भ्रान्ति हुई है। इसके अलावा भ्रान्ति हमेशा एक वास्तविक अनुभव विद्यमान है तो (तादृश भ्रान्ति) हो सकती है। इसलिए यदि संसारित्व की भ्रान्ति हुई है तो कोई एक वास्तविक संसारित्व होना चाहिए ऐसा सिद्ध होता है। अद्वितीय चैतन्यवाद में संसारित्व कैसे सामंजस्य

रखता है ? वह नहीं जम रहा हो तो 'संसारित्व भ्रान्ति है' इसको कैसे मान सकते हैं ?

3. दृष्टान्त की रस्सी भी,सर्प भी द्रष्टा(देखने वाले) से भिन्न हैं एवं विषय हुए हैं। स्वयं को ही 'सर्प हूँ' ऐसा कोई भी नहीं समझता है। किन्तु दृष्टान्त में 'मैं संसारी हूँ' ऐसा विषयी को ही संसारी रूप में समझ बैठे हैं ऐसा भी आप कह रहे हैं। इसलिए यह भी दृष्टान्त के साथ मेल नहीं रखता है।

4. एक रस्सी को 'दो है' ऐसा कोई नहीं समझता है, एक जगह विद्यमान उसको दूसरी जगह भी है ऐसी भ्रान्ति नहीं होती है; रस्सी के रूप के साथ समानत्व नहीं रखनेवाले हण्डा, आदि को कोई भी रस्सी में आरोपित नहीं करते हैं। किन्तु दार्ष्टान्तिक में वेदान्तिलोग कहते हैं कि एक शिव में अनेक जीवों की भ्रान्ति हुई है, आत्मा के विषयरूप में उससे बाहर विद्यमान प्रपंच विषयी हुआ उस (आत्मा) में कल्पित है; इतना ही नहीं शुद्धचैतन्य के साथ असमान रूप की अशुद्धजड़वस्तुओं से युक्त प्रपंच उसमें कल्पित है ऐसा भी कहते है। यह भी रज्जुसर्प दृष्टान्त के लिए सामंजस्य नहीं है।

ऐसा होने के कारण हम शिवस्वरूप हैं; उसमें कदापि नहीं रहनेवाले जीवत्व जड़त्वों को हमारे उस स्वरूप में ही कल्पना कर ली है ऐसा कैसे मान सकते हैं ?

प्रपंच मिथ्याज्ञान के कारण आत्मा में ही प्रतिभास रहा है–

अब उपर्युक्त आक्षेपों का एक–एक करके परिहार करेगें।

1. पूर्व में कभी नहीं हुए संसारित्व का संस्कार हो,उससे हुई भ्रान्ति

के लिए समानरूप अनुभव पहले होकर ही रहना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं। दृष्टान्त की रस्सी में 'यह सर्प है' इस प्रकार कदापि अनुभव नहीं था, तथापि 'यह सर्प है' ऐसी भ्रान्ति हो गयी। इसी प्रकार संसारित्व की भ्रान्ति हो गयी है ऐसा विश्वास कर सकते हैं।

2. वास्तविक सर्प को देखकर ही सर्प का भ्रम होता है, अतः वास्तविक एक संसारी को देखकर ही संसारित्व का भ्रम होना चाहिए न ? यह दूसरा आक्षेप है, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सत्यवस्तु को देखकर ही भ्रम होना चाहिए। जन्म से एक ने सर्प को नहीं देखा है, दूसरे ने उसको देखा है–इस प्रकार दोनों रस्सी को दूर से ही देखकर मन्दान्धकार होने से उसको रस्सी रूप में नहीं जान सके ऐसा मान लीजिए। तब जिसने सर्प को देखा है–'देख! यह तो साँप है' ऐसा कहने पर दूसरे को भी सर्परूप ज्ञान होता है। यद्यपि दूसरे ने; सर्प नाम को जिसने कहा उसी से सीखा तथापि जो रस्सी रूप नहीं है उसको रस्सी में आरोपित करना दोनों को समान है। इसके बाद वह इस सर्परूप संस्कार से दूसरी रस्सी को भी सर्प रूप में ही भावना कर सकता है न ? इस संदर्भ में भ्रान्ति का मूल हुआ असली सर्प ही नहीं है।

आक्षेपः– यह ठीक नहीं है। दृष्टान्त में दोनों में एक को वास्तविक सर्प का ज्ञान है। संसार में वास्तविक संसार का किसी को भी नहीं। पहले संसार किसी एक को वास्तव में हो चुका हो (तब) अन्यों को भी भ्रम से हो जाता है। इस (विषय) में दृष्टान्त ठीक बैठता था। किन्तु ऐसा नहीं है। इसके सिवा रस्सी का यथार्थ ज्ञान होने पर यह रस्सी ही है,निरर्थक ही सर्प मान लिया' ऐसा ज्ञान होता है। दार्ष्टान्तिक में इस प्रकार के अनुभव के लिए

अवकाश नहीं है। क्योंकि जैसे रस्सी को पहले देखा गया वैसे आत्मा को पहले किसी ने नहीं देखा है; यदि देखा होगा तो पुनः इस प्रकार की भ्रान्ति के लिए कारण ही नहीं। अथवा यदि कारण है तो फिर वेदान्तज्ञान से आत्मा का दर्शन करने पर भी पुनः यह भ्रम हो सकता है। इस प्रकार 'संसार भ्रम है' इसके लिए रज्जुसर्प का दृष्टान्त स्वल्प मात्र भी अनुरूप नहीं दिखता है।

समाधान :– दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के साथ सर्व प्रकार से सम होना चाहिए ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों सर्व विषय में एक ही होने पर एक दृष्टान्त है,दूसरा दार्ष्टान्तिक है ऐसा कहना नहीं होगा। प्रकृत में रज्जुसर्प दृष्टान्त से इतना ही समझना है कि; जैसे रज्जु को सर्प समझते हैं वैसे आत्मा को अनात्मा समझ लिए हैं। इसलिए पूर्व में वास्तविक संसार को जिसने देखा है उसी को संसारित्व भ्रम होना चाहिए ऐसा भी कोई नियम नहीं है, इतने मात्र विषय में उपरोक्त दृष्टान्त ठीक ही है।

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है

आक्षेप– यह बात छोड़ दीजिए। कम से कम आत्मा तो हमें पहले ज्ञात होना चाहिए क्या नहीं ? रस्सी को सर्प समझ लिया–यह अनुभव जो रस्सी के स्वरूप को ही नहीं जानता है उसको नहीं हो सकता है न ? यदि यह सच है तो,आत्मा को ही नहीं जानने वाले हमको आनात्मभ्रम कैसे हो गया–इस प्रकार पूछ सकते हैं न ?

समाधान :– आत्मा को नहीं जानने वाले है ही नहीं।'मैं,मैं' इस प्रकार सभी अपनी आत्मा को जानते हैं।

आक्षेप :– तब तो 'मैं ही आत्मा है ऐसी सब को जानकारी है न ? फिर आत्मा को जानने के लिए वेदान्तशास्त्र क्यों चाहिए ? जो आत्मा को जानते हैं; उनको भी यदि भ्रम हो सकता है तो आत्मज्ञान से प्रयोजन भी क्या है ?

समाधान :– आत्मा को 'मैं' ऐसा सामान्यरूप से समझ लिये हैं; किन्तु 'सत्यज्ञानानन्दरूप शिव ही मैं हूँ' इस रूप मे नहीं जाना है। रस्सी को सर्प रूप में समझते समय 'यह'इस सामान्यरूप से समझते हुए ''रस्सी'' है ऐसा विशेष रूप से नहीं समझने के कारण उसको सर्प है,या जमीन की दरार ऐसा भ्रम में पड़ जाते हैं न ? वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। हमारी आत्मा **सत्य** है अर्थात् सर्वदा जैसा का तैसा रहने वाला है; **ज्ञान** रूप है अर्थात् चेतन (चिद्) रूप वाला है; **आनन्दस्वरूप** है अर्थात् सुखस्वरूप वाला है। इसको हमें जानना पड़ेगा। इसको वेदान्तशास्त्र हमें अवगत कराता है।

आक्षेप :– यदि ज्यों का त्यों रहना ही सत्य है तो पत्थर,वृक्ष आदि भी जैसे के तैसे रहते हैं न ? वे उस रूप से आत्मा है तो हमें सत्यस्वरूप की जानकारी है ही –ऐसा हो जाता है न ?

समाधान :– ऐसा नहीं। कोई भी पदार्थ वास्तव में जैसा का तैसा विद्यमान नहीं है। पत्थर,चट्टान भी कालक्रम से विपुल फेरबदल को प्राप्त करते हैं। वे फटकर टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं,अन्त में बालू रूप में भी परिणत हो सकते हैं। यदि चट्टान ज्यों की त्यों रह रही होती तो इतने परिवर्तन कैसे होते ? इसलिए क्रम–क्रम से वे अलग होती रहती हैं ऐसा कहना पड़ेगा। तथापि व्यवहार में स्थूलदृष्टि के लिए कुछ पदार्थ यथावत् दिखते हैं।

उदाहरण के लिए मिट्टी से घड़ा, सुराही, हाँड़ी, तवा आदि को बनाने पर भी मिट्टी तो मिट्टी ही है, अतः एक दृष्टि से देखने पर ऐसी वस्तुओं को सत्य कह सकते हैं किन्तु हमारी आत्मा सत्य है ऐसा कहने पर इस प्रकार व्यावहारिक सत्य है–ऐसा अर्थ नहीं है। वह वास्तव में सत्य है।

इसके अतिरिक्त व्यावहारिक रूप में सत्य हुई वस्तुओं को ज्ञान होना चाहिए ऐसा नियम नहीं है। उदाहरणार्थ–कंकर,मिट्टी आदि के लिए ज्ञान नहीं है। अतः उसका **जड़वस्तु** नाम है। किन्तु हमारी आत्मा ज्ञानस्वरूप है। 'मै इसको जानता हूँ' इस रूप में हमें ज्ञान का अनुभव है न ? आत्मा का ज्ञान इस प्रकार का नहीं। हमारा यह ज्ञान तो तद्–तद् विषयों का अवलम्बन करते हुए उत्पत्ति–नाश को प्राप्त करता रहता है। अतः वह उपरोक्त क्रम से परमार्थ सत्य नहीं। आत्मा सत्य भी,ज्ञान भी हुआ है; इसलिए आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान इस प्रकार उत्पत्ति नाश वाला नहीं है। वह सर्व विकार से रहित होते हुए कूटस्थज्ञान के रूप में विद्यमान है।

और एक विषय हैं। यदि हमें ज्ञान होना है तो बुद्धि को क्लेश देना पड़ेगा। एकाग्रतापूर्वक आलोचना करके ही इस ज्ञान का सम्पादन करना चाहिए। किन्तु आत्मस्वरूप में किसी भी प्रकार का क्लेश है ही नहीं। कोई दुःख भी नहीं है। वह **आनन्दस्वरूप** है। जब हमें विषयभोग मिलता है तब एक प्रकार का सुख होता है न। किन्तु आत्मा का सुख इस प्रकार का नहीं। विषय भोग का सुख उत्पत्ति–नाश वाला है, उसमें परावलम्बन भी है, किन्तु आत्मा सर्वदा एक ही रूप में विद्यमान निरपेक्ष आनन्दवाला है।

इस प्रकार लोक में विद्यमान कतिपय पदार्थों का स्थूलदृष्टि से अवलोकन करने पर सत्य,ज्ञान,आनन्द इन वचनों के लिए योग्य है ऐसा दिखने पर भी अच्छी तरह से परीक्षा करने पर आत्मा नहीं हुआ कोई भी पदार्थ वास्तविक अर्थ में सत्यज्ञानानन्दरूप नहीं है। इस स्वरूप को जानने से उसमें कल्पित जीवजगद्रूप बाधित होता है।

(3–4) अब तीसरे और चौथे आक्षेपों का विमर्शन करें । अपने से भिन्न विषय हुई रस्सी में विषयरूप सर्प का अध्यारोपण देखा जाता है। किन्तु स्वयं को दूसरे एक रूप वाला हूँ–ऐसी भ्रान्ति होती है क्या ? अद्वितीय हुए शिवस्वरूप में ही अनेक जीव,जड़वस्तुओं की भी कल्पना की गई है ऐसा कैसे विश्वास कर सकते हैं ? आत्मा से अलग हुआ, उसके सामने अनात्मरूप एक प्रपंच कल्पित है ऐसा कैसे मान सकतें हैं ? इसमें एक भी रज्जुसर्प के दृष्टान्त के साथ मेल मिलाप नहीं रखते हैं न ? यह उन दोनों आक्षेपों का सार है। आत्मा सत्यज्ञानानन्दस्वरूप होने पर उसमें असत्य जड़–दुःख रूप प्रपंच कैसे कल्पित हुआ ? यह भी आक्षेपक की शंका के अन्तर्गत है।

प्रपंच की प्रतीति स्वप्न के समान है

इन आक्षेपों के लिए परिहार को कहने के पूर्व एक विषय समझाना पड़ेगा। वह क्या है कि आक्षेपक रज्जुसर्प के दृष्टान्त को यथावत् ग्रहण करके एक मनुष्य ने किसी एक काल में रस्सी में सर्प की कल्पना कर लेता है,वैसे आत्मा अपने में किसी एक काल में प्रपंच की कल्पना कर ली है

ऐसी भावना की है। आतएव उनके विचारक्रम में इतनी बाधाएँ हुई हैं। वास्तव में देखा जाए तो परमार्थ हुए शिवस्वरूप में दृष्टान्त के अनुरूप कोई भी किसी एक काल में संसारित्व की हो या प्रपंच की कल्पना नहीं की है। एक दृष्टि से देखने पर "मैं जीव हूँ, मेरे सदृश अनेक जीव को भी, मुझ से विलक्षण हुई जड़वस्तुओं को भी अपने अन्तर्गत किये हुए प्रपंच में मैं विद्यमान हूँ" ऐसी भावना आती है; अन्य एक दृष्टि से देखने पर "मैं किसी भी जीवत्व से रहित सत्यज्ञानानन्दस्वरूप हुआ अद्वितीयात्मा हूँ" ऐसी भावना आती है। इन दोनों भावनाओं में दूसरी सही है। क्योंकि वह भावना आते ही संसारित्व भी,जगत् भी असत्य रूप में प्रतिभासने लगता है। इसको समझाने के लिए ही रज्जुसर्प के दृष्टान्त को दिया गया है। इसको छोड़कर उस दृष्टान्त में विद्यमान सबकुछ दार्ष्टान्तिक के साथ सामंजस्य रखता है–इस अभिप्राय से उसको नहीं दिया गया है। इसलिए अब तृतीय और चतुर्थ आक्षेपों का परिहार करने के लिए योग्य, और एक दृष्टान्त को स्वीकार कर सकते हैं। वह यह है कि निद्रालस्य के कारण स्वप्न हुआ तो कौन–कौनसे दृश्य दिखने लगते हैं। देखिए! अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से विस्मरण करके दूसरे ही रूपवाले के समान दृश्यमान होते हैं। (वह) स्वयं अकेला होते हुए भी अपने सामने बहुत सारे लोग, प्राणी, वृक्ष–पौधे, कंकर, मिट्टी इत्यादि जड़वस्तुओं से युक्त जगत् विद्यमान सा है उस जगत् में मैं भी एक हूँ ऐसा भी देखता है। तथापि परमार्थ क्या है ? उस स्वप्न का जगत्, वहाँ दृश्यमान अपने रूप भी अत्यन्त असत्य है। स्वयं जागने मात्र से गायब

हो जाते हैं,इसलिए वह समस्त दृश्य अपने अधीन स्थित सत्तावाला है। इस दृष्टान्त में स्वप्न को हम में से किसी ने भी चाहकर कल्पना नहीं की है, अपने आप दिखता है; किन्तु वह वास्तव नहीं है, इसी प्रकार आक्षेपक द्वारा पूछे गये स्वरूप का जीवत्व भी, जगत् भी सत्यज्ञानानन्दरूप हमारी आत्मा में कल्पित हैं ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं है।

प्रपंच सत्य नहीं है

आक्षेप :– रस्सी में सर्प का अध्यारोप करना देखा जाता है, स्वप्न में अविद्यमान प्रपंच दिखता भी है–इतने मात्र से अब(सामने) स्थित प्रपंच,उसमें विद्यमान संसार भी कल्पित है ऐसा कैसे कह सकते है ? प्रपंच केवल प्रतीति मात्र है ऐसा एक–दो दृष्टान्त देने मात्र से सिद्ध नहीं होता है। "गधे को देखो, कितनी कर्कश आवाज से रेंकता है! वह (आदमी) भी ऐसा ही है" ऐसा कहने मात्र से संगीतकार का स्वर गर्दभस्वर है ऐसा निर्णय नहीं कर सकते है। वाह, क्या कोयल जैसी आवाज ! इस प्रकार उत्तम उपमा देने मात्र से पिकस्वर में वार्तालाप कर रही महिला की आवाज मृदुमधुर सुस्वर है ऐसा निर्णय करना होता नहीं। रज्जुसर्प प्रतीति मात्र है, अथवा स्वप्न भी प्रतीति मात्र हो इतने मात्र से प्रपंच का क्या बिगड़ता है ?

समाधान :– प्रतीति की वस्तु जिस प्रकार दिखती है, प्रपंच भी उसी प्रकार दिखता है। वह सत्य है यह बुद्धि जैसे सही ज्ञान से बाधित हो जाती है वैसे ही प्रपंच सत्यत्व बुद्धि भी सम्यक् ज्ञान से बाधित हो जाती है। इसलिए उस प्रतीति की वस्तु और इस प्रपंच में कुछ भी न्यूनातिरेक नहीं है। उदाहरण के

लिए स्वप्न में प्रतिभासमान प्रपंच को देखिए। जाग्रत् के समान ही स्वप्न के वह प्रपंच भी हमारे सामने फैला हुआ सा दिखता है; जाग्रत् के प्रपंच के अनुरूप वह भी तब सत्य ही दिखता है। जाग्रत् प्रपंच जैसे उस प्रपंच में भी अनेक जन,पशुपक्षी,मृगादि भी विद्यमान से प्रतिभासते हैं। जाग्रत् प्रपंच में जीव जन्म लेकर कुछ समय व्यवहार करके अन्त में मृत्यु को प्राप्त करते हैं वैसे वहाँ भी जीव जन्म लेकर व्यवहार करके मर जाते है ऐसी भावना हमें होती है। जाग्रत् प्रपंच में जिस प्रकार हमें और अन्य जीवों के साथ एवं जड़वस्तुओं के साथ भी सम्बन्ध व्यवहार है वहाँ भी उसी प्रकार विद्यमान है ऐसी पक्की भावना होती है। अधिक क्या कहना है स्वप्न उस काल में सभी प्रकार से जाग्रत् ही है ऐसा हमारी भावना है। इसलिए हम 'जाग्रत्' कह रहे अवस्था, स्वप्न नहीं है ऐसा दर्शाने के लिए इसमें कोई भी प्रमुख लक्षण नहीं होने के कारण इसमें विद्यमान प्रपंच सत्य कहने के लिए कुछ भी प्रमाण नहीं है। इसलिए स्वप्न का दृष्टान्त केवल दृष्टान्त नहीं; प्रपंच मिथ्या है वह आत्मा में कल्पित है इसके लिए भी पर्याप्त अनुभव विद्यमान है।

आक्षेप :– यह उचित नहीं दिखता है। क्योंकि स्वप्न चले जाने के बाद जाग्रत् आकर स्वप्न मिथ्या है ऐसा दिखता है। किन्तु जाग्रत् चले जाने के अनन्तर वास्तविक कौनसी अवस्था आने पर यह मिथ्या हो जाता है ? जाग्रत् में ही रहते हुए जाग्रत् एवं उसके प्रपंच को भी मिथ्या कह सकते है क्या ?

समाधान :– स्वप्न से जाग्रत् में आने के बाद स्वप्न मिथ्या है ऐसा ज्ञान हो

जाना मुख्य नहीं है; स्वप्न मिथ्या है यह ज्ञान ठीक है या गलत ? यही अब विचार करने योग्य है। वह ठीक ही है; क्योंकि जाग्रत् में स्वप्न के प्रपंच कहीं भी नहीं रहता है। स्वप्न का प्रपंच यदि सत्य है तो वह अब भी कहीं न कहीं होना चाहिए ऐसा हम अनुमान कर सकते थे। किन्तु ऐसा अनुभव नहीं। स्वप्न प्रपंच स्वप्न काल में हो अथवा अब भी हो; है ही नहीं ऐसा हमने निश्चय कर लिया है। इसलिए स्वप्न भी, उसका प्रपंच भी मिथ्या ही है अर्थात् कुछ समय तक दिखाई दिया केवल प्रतीति मात्र है ऐसा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार जब हमें स्वप्न होता है तब जाग्रत् प्रपंच कहाँ रहता है ? वह उस समय कहीं भी विद्यमान नहीं हैं। वह कहीं न कहीं विद्यमान है ऐसी भावना भी हमें स्वप्न में नहीं रहता है। जब हम स्वप्न देख रहे हैं तब हमारा जाग्रत् प्रपंच अर्थात् जब हमारे जागते समय मात्र प्रतीयमान प्रपंच–है ऐसा यदि कहेंगे तब हमें स्वप्न भी जाग्रत् भी एक ही काल में हो रहे हैं ऐसा कहने के समान हो जायेगा। यह स्व विरूद्ध वचन है। इसलिए जाग्रत् का प्रपंच भी स्वप्न के प्रपंच के समान असत्य ही कहना पड़ेगा। आखिर स्वप्न से दूसरी अवस्था में आने के कारण स्वप्न मिथ्या है ऐसा हमने निर्णय नहीं किया है। उसके स्वरूप का विचार करके ही वह सत्य नहीं है ऐसा हमने निश्चय किया है। वैसे ही जाग्रत् के स्वरूप का विचार करने से वह सत्य नहीं है ऐसा समझमें आता है। इसके निर्णयार्थ और किसी दूसरी अवस्था में जाने की आवश्यकता नहीं है।

आक्षेप :– स्वप्नप्रपंच के अनुरूप जाग्रत् के प्रपंच भी केवल प्रतीति मात्र है

ऐसा सद्य स्वीकार करेगें। किन्तु यह प्रतीति सत्यज्ञानानन्दरूप आत्मा में कल्पित है इसके लिए कौन सा आधार है ? हमारी आत्मा सत्यज्ञानानन्दस्वरूप है इसके लिए आधारभूत अनुभव हमें है क्या ?

समाधान :– इसके लिए निद्रा के अनुभव को देखना चाहिए। जाग्रत् में भी,हमें जीवत्व एव जगत् प्रतिभासने पर भी गाढ़निद्रा में हम अकेले ही विद्यमान होने के नाते, "वह है,नहीं" ऐसी कल्पना करना भी अशक्य होने के कारण भी आत्मा **सत्यस्वरूप** है ऐसा सिद्ध होता है; जाग्रत्स्वप्नों में प्रतिभास रहे समस्त जीवजड़प्रपंच को साक्षी रूप से जानते रहने के कारण भी, प्रपंच रहित गाढ़निद्रा को उसी रूप से अनुभव करते रहने के कारण से भी आत्मा **ज्ञानस्वरूप** भी है, ऐसा सिद्ध होता है। जाग्रत् स्वप्नों में प्रतिभास रही कोई भी वस्तु हो वह अपने लिए ही वाँछित होने के कारण,निद्रा में कोई भी बाह्यविषय न रहने पर भी केवल अपनी सत्ता द्वारा ही सुख के अनुभव को प्रदान करने के कारण **आनन्दस्वरूप** भी है ऐसा निश्चय होता है। अतः सर्वदा विद्यमान सत्यज्ञानानन्द स्वरूप में केवल जाग्रत् स्वप्नों में मात्र प्रतिभास रहे प्रपंच कल्पित है अर्थात् उस आत्मा के बिना पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में नहीं है यह बात भी इस विचार से सिद्ध होती है।

मैं शुद्ध हूँ,पूर्ण हूँ,नित्य हूँ,एक हूँ

अब तक के विचार से यही सिद्ध हुआ कि हमारी आत्मा **शुद्ध** है, उसमें संसार की अशुद्धि या जड़ प्रपंच की अशुद्धि जरा सी भी नहीं है। वह जाग्रत्स्वप्ननिद्रा नामक अवस्था के बन्धन में है, उन जाग्रत् स्वप्न निद्रा

का सम्बन्ध आत्मा के साथ चिपका हुआ है ऐसा कहने के लिए कोई आधार भी नहीं है। क्योंकि अवस्थाएँ आती जाती रहने पर भी यह आत्मा ज्यों का त्यों विद्यमान है। वह **पूर्ण** है। यह कुकल्पना है कि आत्मा प्रपंच में कहीं एक जगह पर विद्यमान होते हुए कालदेश के बन्धन में फंसकर संकटग्रस्त हो रहा है। वास्तव में ऐसी कोई जगह ही नहीं जहाँ आत्मा नहीं हो। जगह (स्थान) भी इस आत्मा में ही कल्पित होकर गोचर होने के कारण उनके लिए स्थल की कल्पना करना किंचिन्मात्र भी स्वीकारार्ह नहीं है। इसी प्रकार उसके लिए काल के माप दण्ड भी नहीं है। क्योंकि काल भी उस आत्मा में कल्पित है। जो कालदेश के बन्धन में है वह अवयव–नाश से हो, पृथक् होने से हो, कोई न कोई एक काल में स्वरूप नाश को अवश्य प्राप्त करता है; किन्तु आत्मा उस प्रकार देशकाल की परिमिति के अन्दर नहीं होने के कारण वह **नित्य** है। इन सभी हेतु से वह **एक** है। अपने लिए द्वितीय कहलाने योग्य जीव हो या जगत् से रहित है। जीवजड़ प्रतिभासने के समय भी केवल प्रतीति मात्र हैं ऐसा पहले ही दर्शाया गया है। गाढ़निद्रा में इनके नाम–निशान नहीं। जैसे स्वप्न चले जाने से स्वप्न देखने वाला मात्र शेष रहता है, भ्रान्ति की प्रतीति हट जाने पर भ्रान्ति के आधारभूत रस्सी आदि मात्र शेष रह जाती है वैसे गाढ़निद्रा में जाग्रत्स्वप्नों की प्रतीति नहीं होने के कारण यह आत्मा मात्र शेष रहता है। इसलिए आत्मा ही उन सब के लिए सारभूत है। अतः वह सर्वप्रकार से एक है अथवा अद्वितीय है।

मैं शिव हूँ

अतएव (इन सब हेतु से) मैं शिव हूँ –यही परमार्थ है ऐसा

निश्चय हुआ। जैसे परमेश्वर जगज्जन्मादिकारण है ऐसा शास्त्र में उक्त है, वैसे ही हमारे आत्मस्वरूप सकल जगत् उत्पन्न होकर,प्रतिभास कर, विलीन होने के कारण है। जैसे शास्त्र में परमेश्वर ही सब कुछ हुआ है ऐसा कथित है वैसे ही हमारे आत्मस्वरूप सब कुछ हुआ है, जिस प्रकार परमेश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला है ऐसा शास्त्र में वर्णित है, उसी प्रकार हमारा आत्मस्वरूप भी विद्यमान है ऐसा अनुभव की समर्थन वाली युक्ति से सिद्ध है। इसलिए हम सब की आत्मा शास्त्र में कथित शिव ही है ऐसा सिद्ध होता है।

4. द्वैतस्थिरत्वभ्रान्ति का परिहार

पूर्वोक्त रस्सी का सर्प,स्वप्न–ये दृष्टान्त जीवजड़भ्रान्ति के लिए पूर्णरूप में सटीक उदाहरण नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान होने के बाद भी जगत् अवभासता ही रहता है। किन्तु रस्सी का सर्प रस्सी के तत्त्व को जानने के बाद अदृश्य हो जाता है; स्वप्न का प्रपंच भी जागते ही चला जाता है। आत्मज्ञान के अनन्तर प्रपंच वास्तव में चला ही जाता है ऐसा यदि वेदान्ती लोग कहे तो वह ठीक नहीं। क्योंकि तब जिसे आत्मज्ञान हुआ हो उसकी दृष्टि में और कोई भी विद्यमान नहीं होने के कारण उसके द्वारा दूसरों के लिए तत्त्व का बोधन करना होगा नहीं। तब गुरूशिष्यभाव ही नहीं रहेगा–इस प्रकार कुछ लोग सोच सकते हैं। इस शंका के परिहारार्थ आगामी श्लोक का प्रादुर्भाव है

मत्तो नान्यत्किञ्चिदत्रास्ति विश्वं
सत्यं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम्।
आदर्शान्तर्भासमानेन तुल्यं
मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम्।।4।।

प्रतिपदार्थः– अत्र–यहाँ, मत्तः–मुझ से,अन्यत्–पृथग् हुआ(भिन्न), सत्यं–वास्तविक,विश्वं–प्रपंच,किञ्चित्– कुछ भी, नास्ति–नहीं है। बाह्यं–बाहर की, वस्तु–वस्तु(पदार्थ),मायोपक्लृप्तं–माया द्वारा कल्पित,आदर्शान्तः–दर्पण के अन्दर, भासमानेन–प्रतीत हो रहे प्रतिबिम्ब के, तुल्यं–तुल्य है, अद्वैते–द्वितीय रहित, मयि–मुझ में, भाति–प्रतिभास रहा है। तस्मात्–इसलिए, अहं–मैं,शिव–शिव हूँ।

4. मुझ से भिन्न सत्य हुआ प्रपंच ही यहाँ नहीं है। बाहर

विद्यमान सभी वस्तु माया से कल्पित है। यह तो अद्वितीय हुए मुझमें— दर्पण में प्रतीत हो रहे प्रतिबिम्ब के समान है। इसलिए मैं शिव हूँ।

विवरण

मुझ से अलग हुआ प्रपंच नहीं है–

आत्मा अद्वितीय है–इस विषय में एक मुख्य **आक्षेप** है। सामने स्पष्ट रूप में दिखाई दे रहे प्रपंच को 'है नहीं' ऐसा कहना कैसे सम्भव है ? यदि वह विद्यमान है तो " वह अद्वितीय है " अर्थात् "स्वयं से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं" ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

समाधान :– आत्मा के साथ एक प्रपंच विद्यमान है ऐसा समझना गलत है। क्योंकि आत्मा से भिन्न होते हुए,स्वतन्त्र रूप मे प्रपंच विद्यमान नहीं है। आत्मा एक,प्रपंच दूसरा इस प्रकार दो वस्तु हैं ऐसा गणना करना होता नहीं। आत्मा,प्रपंच–ये किसी एक समान जाति से सम्बन्धित दो व्यक्ति नहीं है,एक ही जाति से सम्बन्धित हुए बिना 'दो' ऐसे संख्या का उपयोग नहीं कर सकते हैं। एक कुर्सी के बगल में और एक कुर्सी रख दी तो दो कुर्सी हो जाती है। एक कुर्सी के साथ एक चौकी रख दी तो दो लकड़ी की वस्तु हो जायेगी। किन्तु आत्मा के साथ प्रपंच को जोड़ने पर दो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

आक्षेप :– क्यों नहीं ? आत्मा और प्रपंच भी मिलकर दो पदार्थ है ऐसा कह सकते हैं न ?

समाधान :– नहीं। क्योंकि आत्मा पदार्थ नहीं। पदार्थ माने जो पद के लिए अर्थ हुआ है वह। जिसको मन द्वारा ग्रहण कर सकते हैं उसको पद के द्वारा पहचान सकते हैं। वह उस पद का अर्थ है। किन्तु आत्मा का मन द्वारा

ग्रहण करना होता नहीं। आत्मा ही मन को प्रकाशित करता है। इसलिए आत्मा पदार्थ नहीं है। इसलिए ही आत्मा शिव है– आदि प्रकार से वेदान्तियों द्वारा उपयोग किये गये पदों से दूसरों को कोई भी अर्थ सूझता नहीं। पद के लिए अर्थ नहीं–इतने मात्र से आत्मा ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अनुभव में आत्मा प्रकाशित होता है और आत्मा के अनुभव के आधार से ही मन को, मन के लिए गोचर हो रहे अन्य प्रपंच को भी हम समझ लेते हैं।

आक्षेप :– यदि आत्मा पदार्थ नहीं है तो कोई बात नहीं। आत्मा प्रपंच– इस प्रकार के अनुभव से ही दो विद्यमान है ऐसा निर्णय होता है न ?

समाधान :– नहीं होता है। क्योंकि एक,दो इस प्रकार गिनती करने के लिए एक ही देश में विद्यमान अथवा एक ही काल में विद्यमान पदार्थ होना चाहिए। काल में भी नहीं रहते हुए, देश में भी नहीं रहते हुए,पदार्थ भी नहीं होते हुए–रहने पर आत्मप्रपंचों को 'दो' ऐसी संख्या कैसे जमेगी ?

आक्षेपः–यदि दो नहीं तो दो भिन्न–भिन्न वचनों का प्रयोग कैसे किया गया?आत्मा भी,प्रपंच भी दोनो एक ही है ऐसा कहना कैसे सम्भव है ?

समाधान :– एक ही तत्त्व को दो दृष्टि से देखना साध्य है इसलिए दो वचनों का यहाँ प्रयोग किया गया है। ज्ञानियों की दृष्टि से आत्मा है; अज्ञानियों की दृष्टि से प्रपंच हुआ है। वास्तव में आत्मा को ही अज्ञानी जन प्रपंच कह रहे हैं।

आक्षेप :– यदि एक आत्मा ही दो प्रकार से प्रतिभास रहा है तो दोनों ही सत्य है, ऐसा क्यों नहीं कह सकते हैं ?

समाधान :– इसका उत्तर पहले ही दिया गया है। प्रपंच परमार्थ नहीं है, वह असत्य होते हुए अज्ञ द्वारा आत्मा में आरोपित किया हुआ है।

आक्षेप :– यदि प्रपंच असत्य है तो जो आत्मा को जान गये हैं उनको भी वह क्यों प्रतिभासता है ? जिस प्रकार जागते ही स्वप्नप्रपंच गायब हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान होते ही वह क्यों गायब नहीं होता है ?

समाधान :– गौर से देखा जाए तो गायब ही हो जाता है। अथवा ज्ञान होने के पश्चात् अदृश्य हो जाता है ऐसे कहने से भी वह कदापि नहीं था ऐसा कहना ही अधिक युक्ति संगत है। इसलिए चले जाने योग्य प्रपंच ही नहीं।

आक्षेप :– फिर प्रपंच क्यों प्रतिभासता है ?

समाधान :– वह क्यों प्रतिभासता है इसके लिए कारण बताना आवश्यक नहीं है। वह सत्य नहीं है, केवल प्रतिभास मात्र है–इतना जानना ही पर्याप्त है।

आक्षेप :–ठीक है,केवल प्रतिभास मात्र होने दीजिए, फिर भी (वह) प्रतिभास वास्तविकता को समझने के बाद स्वप्न के समान क्यों नहीं चला जाता ?

समाधान :– सभी प्रतिभास, वास्तविकता को जानने से अदृश्य होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। यह वास्तव में इस प्रकार की वस्तु नहीं, वस्तु के समान गोचर हुआ–ऐसा जानने के पश्चात् हम भ्रान्ति से उसके लिए दिया गया सत्यत्व मात्र ओझल हो जाता है। सभी प्रतीतियों के लिए यह नियम अवश्य है।

आक्षेप :– आत्मा,प्रपंच–दोनों प्रतीत होने पर भी प्रपंच मात्र प्रतीति है, आत्मा प्रतीति नहीं इस नियम का क्या कारण है ?

समाधानः— प्रपंच आत्मा को छोड़कर पृथक् रूप में नहीं प्रतिभासता है; आत्मा मात्र प्रपंच के बन्धन में नहीं रहते हुए स्वतन्त्र रूप में विद्यमान है। आत्मा गाढ़निद्रा में अवश्य विद्यमान है, तब प्रपंच रहता ही नहीं। इसलिए प्रपंच आत्मा को छोड़कर अकेले ही सत्य नहीं। प्रपंच का अस्तित्व आत्मा के अस्तित्व से ही है ऐसा निर्णय होता है। जिस प्रकार प्रपंच की सत्ता बाधित हो जाती है उसी प्रकार आत्मा की सत्ता कहीं भी बाधित नहीं होती । वैसे होना साध्य भी नहीं। इसलिए आत्मा सत्य ही है,प्रपंच प्रतीति मात्र है।

आक्षेप :— प्रपंच निद्रा से हमारे जागने के तत्क्षण ही अचानक प्रतिभासने लगता है। निद्रा में अविद्यमान प्रपंच का पुनः प्रतिभासना असम्भव होने के कारण वह निद्रा में भी कहीं न कहीं एक जगह पर होना चाहिए न ?

समाधान :— यह ठीक नहीं। निद्रा में प्रपंच कहाँ है ? हमारी निद्रा के अन्दर तो वह रहता नहीं। यदि विद्यमान होता तब भी वह प्रतिभासना चाहिए था; निद्रा के बाहर क्यों (विद्यमान) नहीं हो सकता ? पूछा तो 'हमारे निद्रा के बाहर' — इस बात के लिए कोई अर्थ ही नहीं।

{ **टिप्पणी :—** अधुनातन वेदान्तियों में कुछ लोगों का कहना है कि निद्रा में प्रपंच मूलाविद्या रूप में विद्यमान रहता है। यह केवल कल्पना मात्र है ऐसा गाढ़निद्रा के अनुभव से ही स्पष्ट होता है। इस वाद को **मूलाविद्यानिरास** नामक संस्कृत ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विमर्श करके खण्डन किया गया है। }

आक्षेप :— क्यों अर्थ नहीं ? दूसरे किसी के सोते समय सम्पूर्ण प्रपंच ही उनसे बाहर विद्यमान होते हुए रहना हम सब देखते हैं न ? इसी प्रकार

हमारे सोते समय भी कोई न कोई प्रपंच को देखते हुए क्यों विद्यमान नहीं रह सकते हैं ? इस दृष्टि से हमें प्रपंच नहीं प्रतिभासने पर भी हमारी निद्रा में भी वह अपने आप विद्यमान रहता है ऐसा ठीक मालूम होता है न ?

समाधान :– दूसरे (लोग) सो रहे हैं इस निश्चयार्थ हमारे पास आधार रूप में अनुभव नहीं है। जैसे दूसरों के सुखदुःख साक्षात् हमारे अनुभव में नहीं आता है वैसे ही दूसरों की निद्रा भी हमारे अनुभव से परे है। हमारे स्वप्न में बहुत सारे लोग सोते हुए हमें दिख सकते हैं; किन्तु वे वास्तव में भी सो रहे थे ऐसा हम अब निश्चय नहीं करते हैं। जाग्रत् में भी दूसरों की निद्रा इसी प्रकार की है। वह केवल ऊहा से निश्चय करने योग्य है। अतः निद्रा का साक्षात् अनुभव हमें निद्रा में ही होने योग्य है। हमें जाग्रत् में प्रतीयमान इतरों की निद्रा भी (एवं) वे इतर लोग भी हमारे जाग्रत् के प्रपंच के अन्तर्गत होने के कारण, वे इतर जन हमारे जाग्रत् को अतिक्रमण करके विद्यमान है ऐसा समझना अयुक्त है। इसलिए हम निद्रा में है इसका अर्थ हमारे जाग्रत् का प्रपंच तब नहीं था ऐसा अर्थ है। क्योंकि यदि हम कहे कि हमारे जाग्रत् के प्रपंच भी हमारी निद्रा में विद्यमान है तब हम एक ही काल में सो भी रहे हैं, जागते भी हैं–ऐसा कहने के समान होगा। यह हास्यास्पद वचन है। इसलिए हमारी निद्रा में जाग्रत् का प्रपंच था ही नहीं ऐसा कहना ही युक्त है।

बाहर की वस्तु मायिक है

आक्षेप :– यदि ऐसी बात है तो बाहर प्रतिभास रहा प्रपंच कैसे हुआ ? निद्रा से जागते ही यह नियमपूर्वक प्रतिभासने के कारण,जाग्रत् में भी,स्वप्न में भी सर्वदा विद्यमान होने के कारण भी उसमें कुछ न कुछ सार होना ही चाहिए

न ? वह क्या है ?

समाधान :– प्रपंच कैसे हुआ यह प्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि प्रपंच सत्य नहीं, वह केवल प्रतीति मात्र है ऐसा कहने पर भी उसके लिए कारण पूछना अयुक्त है। आत्मा को छोड़कर वह प्रतिभास नहीं सकता है और आत्मा उसके बिना भी विद्यमान रहता है, अतः उस प्रतीति का वास्तविक आधार आत्मा ही है। आत्मा ही उसका सार है ऐसा सिद्ध होता है। आत्मा में अविद्यमान विलक्षण प्रपंच कैसे हुआ पूछा तो वह **माया** से हुआ है ऐसा कहेंगे।

आक्षेप :– माया क्या है ? वह प्रपंच कैसे हुआ पूछा जाए तो माया से ऐसा नया नाम बतलाने मात्र से क्या मतलब निकला ?

परिहारः– माया माने अपनी प्रतीति के लिए कोई भी युक्ति नहीं होते हुए, केवल मिथ्याज्ञान के लिए विषय हुई प्रतीति है। हमने केवल नाम को ही नहीं कहा है। प्रपंच माया से हुआ है इसका अर्थ आत्मा में मिथ्याज्ञान से गोचर हो रही प्रतीति है,वह कैसे हुआ इस विषय को युक्ति के साथ मिलाप करके समझाना किसी से भी नहीं होता है ऐसा हमारा अभिप्राय है।

अद्वितीय आत्मा नानात्व से युक्त प्रपंच हो जाना,शुद्धरूप आत्मा में अशुद्ध प्रपंच प्रतिभासना, कूटस्थ आत्मा से परिणामवाला प्रपंच हो जाना,पूर्ण आत्मा से परिच्छिन्न वस्तुओं से संयुक्त एक अवस्था के बन्धन में विद्यमान प्रपंच हो जाना यह सब माया है, अर्थात् युक्ति के लिए विरूद्ध है। इसको कोई भी हो युक्ति के साथ मेल–मिलाप नहीं कर सकते हैं।

आक्षेप :– आत्मा से प्रपंच हुआ है–यह युक्ति विरूद्ध होने के कारण प्रपंच आत्मा से नहीं हुआ है, वह स्वयं वैसे ही विद्यमान रहता है ऐसा क्यों नहीं

कह सकते हैं ?

समाधान :– अवस्थात्रय परीक्षा करके आत्मा निष्प्रपंच है, उसी में यह जाग्रत् प्रपंच प्रतीत हो रहा है ऐसा अनुभव के बल से सिद्ध कर दिये हैं अनुभव विरूद्ध कोई भी युक्ति को प्रबलयुक्ति नहीं मानी जायेगी। इसलिए यह युक्ति जाग्रत् में मात्र प्रतिभास रहे अन्तःकरण के व्यापार होने के कारण,सभी अवस्थाओं से अतीत आत्मा में अन्वय नहीं होता है ऐसा समाधान कर लेना चाहिए,इसको छोड़कर यह पक्ष युक्ति के लिए विरूद्ध मानकर अनुभव या अनुभवानुसारी युक्ति का हो तिरस्कार करना होता नहीं ।

आक्षेप :– जितनी आत्मा के लिए सत्ता चाहिए उतनी प्रपंच के लिए नहीं चाहिए; वह आत्मा के साथ में हमेशा नहीं रहने पर भी कम से कम अपने काल में तो वह प्रतिभासता है क्या,नहीं ? उतने हद तक उसको सत्य कह सकते हैं न ?

समाधान :– परमार्थदृष्टि से अवलोकन करने पर वह सत्य है ऐसा कहना साध्य ही नहीं; वह आत्मा को छोड़कर स्वतन्त्र रूप में रहता ही नहीं। इसलिए उसके लिए पृथक् सत्ता कहाँ से आयेगी ? आत्माधीन सत्ता को पृथक् सत्ता मान लेने पर शक्कर की मिठास अलग है,तथा शक्कर मिलाये गये पायस(खीर) की मिठास अलग–ऐसा मानना पड़ेगा। वास्तव में देखा जाए तो पायस का मिठास माने शक्कर के अधीन पायस में दिखने वाली मिठास है,वह शक्कर की ही मिठास है दूसरी नहीं, यह बात हम सब जानते ही है। इसी प्रकार आत्मा के अधीन विद्यमान प्रपंच की सत्ता भी आत्मा की ही सत्ता है उससे पृथक् नहीं,ऐसा कहना युक्त ही है। आत्मा की सत्ता को

ही सत्ता कहने पर उससे न्यूनता वाली सत्ता की विद्यमानता नहीं होती है। क्योंकि सत्ता में न्यूनता होना मतलब वह नहीं होना ही है। इसको छोड़कर आधी सत्ता,चौथाई सत्ता–ऐसी सत्ता में भिन्नांश का निर्धारण करना असम्भव है।

आक्षेप :–यदि ऐसी बात है तो लोग व्यवहार में घर है,मठ है ऐसा कहते हैं न ? (**टिप्पणी** " है "–सत्ता का सूचक) यदि प्रपंच में थोड़ी भी सत्ता नहीं है तो इन वस्तुओं में सत्ता लोगों को कैसे दिखाई दी ?

समाधान :– इसका उत्तर पहले ही कह चुके हैं; 'घर है' इसमें 'घर' माया द्वारा हुआ जगत् का अंश है। 'है' परमार्थ सत्यरूप आत्मा का अंश है। इन दोनों को मिलाकर ही लोग व्यवहार में " घर है " ऐसा कहते हैं। आत्मस्वरूप को नहीं जानने के कारण प्रपंच की सत्ता ही उनके लिए वास्तविक सत्ता हुई है। ज्ञानियों की दृष्टि से प्रपंच की सत्ता,सत्ता नहीं होने पर भी; सत्ता के वास्तविक स्थान को जानने तक सत्ता रूप में उपयुक्त प्रपंच की इस सत्ता को **व्यावहारिक सत्ता** नाम से वे पुकारते हैं।

आक्षेप :– व्यवहार में प्रतिभासने वाले सम्पूर्ण प्रपंच यदि असत्य है तो उसमें विद्यमान कुछ वस्तुओं को सत्य है और कुछ प्रतीतियों को असत्य रूप में मानने का क्या कारण है ?

समाधान :– यह भी मिथ्याज्ञान से ही। शतरंज के खिलौने में कुछ एक को हाथी,कुछ एक को घोड़े के रूप में संकेत करने पर भी (वास्तव में) सभी खिलौने लकड़ी से ही बने हुए न ? इसी प्रकार लोग कुछ वस्तुओं को सत्य रूप में व्यवहार करते हैं; उपरोक्त प्रकार से उनकी सत्ता का **व्यावहारिक सत्ता** नाम है। और कुछ एक को असत्य,केवल दिखावा मात्र है ऐसा व्यवहार

करते है; उनकी सत्ता का **प्रातिभासिक सत्ता** नाम है। रज्जुसर्प दृष्टान्त में केवल प्रतीति रूप में हमारे द्वारा माना गया साँप–प्रातिभासिक सत्ता वाला है, इस प्रतीति के लिए आधारभूत रस्सी व्यावहारिक सत्ता वाली है। किन्तु भली भाँति देखने पर दोनों एक ही है; दोनों की भी आत्मरूप से ही सत्ता है; दोनों की भी अपने अपने रूप से सत्ता नहीं। दोनों माया से ही हुए हैं।

आक्षेप :– लोक में सच,झूठ इस प्रकार के विभाग को परमार्थ ही मानना चाहिए। इसको छोड़कर लोगों ने बेमतलब उसकी कल्पना की है ऐसा कहना उचित नहीं दिखता है। यदि यह कल्पना ही है तो एक व्यक्ति के लिए सत्य हुई वस्तु सब के लिए सत्य रूप में, एक के लिए मिथ्या हुई वस्तु सब के लिए मिथ्या रूप में दिखना सम्भव नहीं था।

समाधान :– बहुजनता से युक्त यह प्रपंच सत्य है क्या अथवा असत्य ? इसका विचार अब चल रहा है, अतः इस आक्षेप के लिए अवकाश नहीं है। इसके लिए स्वप्न के दृष्टान्त को दे सकते हैं। स्वप्न में एक वस्तु को बहुत लोग सच माने हुए जैसे प्रतीत हो सकता है; किन्तु वास्तव में वे बहुजनता, वह वस्तु भी, उनकी भावना भी सब कुछ माया द्वारा हुई है। इतना ही नहीं स्वप्न में कुछ वस्तुओं की सत्य के रूप में,और कुछ वस्तुओं की मिथ्या के रूप में हम भावना कर लेते हैं। किन्तु जागते ही वे सब कुछ मिथ्या ही हो जाती है न ? इसी प्रकार जाग्रत् के सत्यमिथ्या विभाग को भी समझना चाहिए।

प्रपंच दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान अद्वैतात्मा में प्रतिभास रहा है :–

आक्षेप :– प्रपंच का ज्ञान यदि मायिक मात्र है तो आत्मा का ज्ञान होने के बाद रज्जुसर्पादि के अनुरूप नहीं दिखना चाहिए न ?

समाधान :– इसके लिए पहले ही परमार्थदृष्टि से समाधान बता चुके हैं। प्रपंच वास्तव में विद्यमान होते हुए दिखता है, वह व्यावहारिक है ऐसा स्वीकार करके अब एक और समाधान बतलाएगें। वास्तविक सत्ता रहित प्रतीति; परमार्थ के ज्ञान के अनन्तर भी दिखना सम्भव है। उदाहरण के लिए दर्पण में प्रतिभास रहे मनुष्य के प्रतिबिम्ब को देखिए। बच्चे दर्पण में प्रतीयमान अपने अपने प्रतिबिम्ब को दूसरे बच्चे के रूप में ही भावना करते हैं। कुछ दिन के बाद यह प्रतिबिम्ब है,वास्तव में दर्पण में बच्चा नहीं–ऐसा समझ लेते हैं। यह ज्ञान होने के बाद भी प्रतिबिम्ब दिखता ही रहता है न ? इसी प्रकार प्रपंच के लिए भिन्न सत्ता आत्मा की सत्ता ही है–ऐसा जानने के बाद भी प्रपंच दिखाई दे सकता है।

आक्षेप :– दर्पण के सामने विद्यमान है तो प्रतिबिम्ब दिखता है,नहीं तो नहीं दिखता,इसी प्रकार आत्मा में प्रपंच दृष्टिगोचर होना,नहीं होना दोनों सम्भव है क्या ?

समाधान :– हाँ । (दोनों) होते हैं। जाग्रत् स्वप्नों में वह दिखाई देता है। गाढ़निद्रा में दिखाई नहीं देता है। किन्तु प्रतिबिम्ब दिखने पर भी,नहीं दिखने पर भी जैसे दर्पण यथावत् विद्यमान है वैसे आत्मा भी एक ही अद्वितीय ही है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखने पर भी व नहीं दिखने पर भी वह अपने स्वच्छ रूप में ही विद्यमान रहता है; वैसे ही आत्मा भी प्रपंच का दिखना,नहीं दिखना–इनसे परिणाम को प्राप्त न होते हुए सर्वदा अद्वैत रूप में ही विद्यमान है।

आक्षेप:–विषय, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अंहकार आदि भेदों की विद्यमानता में और विषयों को इन्द्रिय द्वारा जानकर सुखदुःखों को अनुभव

करते समय भी वह अद्वैत ही है क्या ?

समाधान :– ऊपर वर्णित समस्त विभाग दर्पण में दृश्यमान प्रतिबिम्ब के तुल्य हैं। इसलिए वह अद्वैत ही है। स्वप्न में हम किसी एक को जानते हुए,किसी एक कार्य को करते हुए, सुखदुःख के अनुभव करते हुए प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार वास्तव में हमारे में किसी भी परिवर्तन हुआ ही नहीं उसी प्रकार ज्ञातृ (जानने वाला),ज्ञेय(जानने योग्य),ज्ञान (बोध),भोक्तृ (अनुभव करने वाला),भोग्य (अनुभव करने योग्य), भोग (अनुभव)–ये **त्रिपुटि** हमारे में प्रतिभासते समय भी परमार्थ में ये त्रिपुटिरूप द्वैत आत्मा में नहीं है; वह अद्वैत ही है।

आक्षेप :– एक अवस्था में मायिक द्वैत को देखना, दूसरी अवस्था में नहीं देखना–इतनी सीमा तक भी परिवर्तन आत्मा में है क्या नहीं ? वह इतनी हद तक अपने भीतर ही स्वयं द्वैतरूप वाला है ऐसा होगा ना ?

समाधान :– नहीं। आत्मा के लिए अवस्थाएँ हैं ऐसा कहना भी व्यवहार दृष्टि से ही है परमार्थ में साक्षी चैतन्यस्वरूप आत्मा को छोडकर स्वतन्त्र रूप कोई अवस्था है ही नहीं; अवस्थाएँ भी परमार्थ में आत्मा ही है।

आक्षेप :– आपके द्वारा कथित दृष्टान्त में दर्पण हम से पृथक् है, उसमें हमारा प्रतिबिम्ब पड़ा है; किसी भी प्रकार की द्वैतवस्तु से रहित आत्मा का प्रतिबिम्ब किसमें पड़ना चाहिए ?

समाधान :– दार्ष्टान्तिक का दर्पण दूसरी वस्तु नहीं है। आत्मा ही यहाँ दर्पण है। आत्मा में ही प्रपंच रूप प्रतिबिम्ब पड़ा है।

आक्षेप :– तब तो आत्मा नित्य होने के कारण प्रपंचभ्रान्ति भी नित्य होनी

चाहिए न ? अथवा यह (प्रपंच) सर्वदा विद्यमान होने के कारण यह भ्रान्ति ही नहीं है ऐसा क्यों नहीं कह सकते हैं ?

समाधान :– ऐसा नहीं। आत्मा में सर्वदा प्रपंच दिखना केवल जाग्रत् में ही विद्यमान व्यवहार की दृष्टि से । अवस्थात्रय का अतिक्रमण की हुई दृष्टि से देखा जाए तो किसी भी प्रपंच का प्रतिबिम्ब है ही नहीं। इसके अतिरिक्त दर्पण के दृष्टान्त में प्रतिबिम्ब के अनुरूप हुआ मुख आदि सच्ची वस्तु बाहर विद्यमान है। किन्तु यहाँ प्रतिबिम्ब के लिए अनुगुण(समान गुण वाला) कोई भी वास्तविक बिम्ब विद्यमान ही नहीं। जैसे मिथ्या प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखता है वैसे आत्मा में प्रपंच दिख रहा है, यद्यपि बच्चे लोग दर्पण में प्रतीयमान प्रतिबिम्ब की वास्तविक वस्तु रूप में भावना करते हैं; तथापि बड़े लोग उसको केवल प्रतीति मात्र है ऐसा निश्चय करते हैं। इसी प्रकार अज्ञ जनों के लिए सत्य रूप में प्रतीयमान यह प्रपंच ज्ञानियों के लिए भी दिखाई देने पर,वे उसको सार रहित प्रतीति मात्र है ऐसा निश्चय करते हैं। इतने विषयों में प्रतिबिम्ब और प्रपंच में समानता है–ऐसा हमारा अभिप्राय है।

इसलिए मैं शिव हूँ

इसलिए यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त ज्ञान की दृष्टि से अवलोकन करने पर हम परमार्थ रूप में सर्वदा नित्यशुद्धपूर्णस्वरूप हुआ अद्वितीय चैतन्य स्वरूप ही है। हमारे इस स्वरूप में जीवत्व भी,जगत् भी, व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिभासने पर भी वह परमार्थ नहीं है।

आक्षेप :– मैं इस प्रकार का अद्वैतस्वरूप हूँ–ऐसा जिसने जान लिया है वही है न दूसरों को भी अद्वैतत्त्व का उपदेश देता है ? किन्तु जो अद्वैततत्त्व

हुआ है उसको द्वैत में सत्यत्वबुद्धि है ही नहीं। अतः वह दूसरों को कैसे उपदेश दे सकता है ? यदि उसके द्वारा बोध कराना नहीं होता तो अद्वैतशास्त्र में गुरूशिष्य परम्परा कैसे चलेगी ?

समाधान :– यह संदेह उपर्युक्त व्यावहारिक पारमार्थिक दृष्टियों के विवेक रहित लोगों को होता है। क्योंकि 'रस्सी को सर्प नहीं है ऐसा जानने पर भी रस्सी सर्प के समान प्रतीत हो रही है' ऐसा ज्ञान रह सकता है। 'दर्पण में प्रतीयमान प्रतिबिम्ब सत्य ही है–यह ज्ञान चले जाने के पश्चात् भी 'मैं जब बच्चा था तब मैंने प्रतिबिम्ब को ही सच मान लिया था' यह ज्ञान शेष रह सकता है। ''यह रस्सी,साँप नहीं'' ''स्वप्न जाग्रत्सदृश दिखने पर भी सार रहित है'' ''दर्पण में जो प्रतीत हो रहा है वह केवल प्रतिबिम्ब मात्र है न कि वास्तविक वस्तु'' ऐसा दृष्टान्त में तद् वस्तुस्वरूप को जिसने जान लिया है वह अन्यों को भी जिस प्रकार उसको कह सकता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'तुम लोग सत्यज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं, जीवत्व हो या जगत् आप में नहीं है ऐसा बोधन भी कर सकता है। किन्तु यह सब व्यावहारिक दृष्टि से ही कहा गया है। व्यावहारिक दृष्टि से शास्त्र,शिष्य,गुरू रूप भेद विद्यमान है ही। गुरूशिष्यभाव सत्य है ऐसा कहना उसी दृष्टि से है, न कि परमार्थ दृष्टि से। परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो जीवत्व हो या जगत् विद्यमान नहीं होने के कारण उस जगत् के अन्दर विद्यमान शास्त्र,शिष्य, गुरू,भेद आदि है ही नहीं। 'खरगोश का सींग' ऐसा कहने से यह कोई भी वस्तु रहित केवल वाणी का विकल्प मात्र है ऐसा हो जाता है वैसे ही परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो गुरूशिष्यादि भेद भी केवल **विकल्प मात्र** है। परमार्थदृष्टि से एक अद्वितीयात्मा ही सत्य है।

आक्षेप :– हमारे लिए द्वैत सत्य होने के कारण हम आप के ऊपर आक्षेप लगा सकते हैं किन्तु आपके लिए द्वैत असत्य होने के कारण परिहार किसको कहेंगें ? इस प्रकार द्वैति लोग अद्वैतियों के ऊपर आक्षेप लगा सकते हैं न ?

समाधान :– आक्षेप करने दीजिए। उससे अद्वैति के लिए कोई हानि है ही नहीं। तब तो द्वैतदृष्टि द्वारा ही आक्षेप समाधान आदि सत्य है, अद्वैतदृष्टि से असत्य है ऐसा उन कुतार्किक हुए आक्षेपकों के द्वारा स्वीकार किये जैसे हो जाता है। अद्वैत को स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार का आक्षेप,कोई भी कर नहीं सकता है–यह बात स्पष्ट ही है। अतः तत्त्वपक्षपती हुआ जिज्ञासु 'सत्यज्ञानानन्दस्वरूप शिव ही मैं हूँ' ऐसा निस्संशय रूप में निश्चय कर सकता है।

5. वेदान्तज्ञान का प्रयोजन

वेदान्तज्ञान युक्तियुक्त हो सकता है। किन्तु उसके ज्ञान से हमें कोई प्रयोजन होने वाला नहीं ऐसा कुछ लोगों को दिख सकता है। वैसे लोगों के समाधानार्थ यह आगामी श्लोक आया है।

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं–
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽम् ।। 5 ।।

प्रतिपदार्थः– अहं–मैं,न जातः–उत्पन्न नहीं हुआ हूँ,न प्रवृद्धः–वृद्धि को प्राप्त हुआ नहीं हूँ; न नष्टः–नष्ट हुआ नहीं, उक्तः– ऊपर कहे गये,प्राकृताः –प्रकृति से सम्बन्धित,सर्वधर्माः–समस्त धर्म भी, देहस्य–देह का है। कर्तृत्वादिः– कर्तृत्व आदि,अहंकारस्यैव–अहंकार का ही है, हि– निश्चय है, चिन्मयस्य–चिद्रूप हुआ,आत्मनः–आत्मा हुआ,मे–मुझे, नास्ति– नहीं है, अहं–मैं,शिवः– शिव हूँ।

5. मैं जन्म लेकर, बढ़कर, मृत हुआ भी नहीं। 'मुझ में है' ऐसा प्रतिभासनेवाले ये सभी धर्म देह से सम्बन्धित है। कर्तृत्वादि अहंकार से ही सम्बन्धित है न कि चिन्मय हुआ मुझ से । मैं शिवस्वरूप हूँ।

विवरण :–

वेदान्तज्ञान का प्रयोजन क्या है–ऐसा जो पूछ रहे हैं वे पहले हमें उससे क्या होना है,–क्या इच्छा रखते हैं ! – इसका विचार करना चाहिए। उदरपोषण,वस्त्र,धन आदि की इच्छा रखनेवाले इसके लिए योग्य व्यवसाय नहीं करने पर भी वेदान्त से वे मिल जायेगें ऐसी भावना कदापि

नहीं रखे। सत्राजित् के स्यमन्तकमणि के समान पूजन करने मात्र से वेदान्तज्ञान भी दिन में आठ मण स्वर्ण नहीं दे सकता है। तथापि दूसरी दृष्टि से देखने पर वेदान्तज्ञान एक प्रकार की चिन्तामणि ही हुई है ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि जिसने इसका सम्पादन नहीं किया है उसके लिए विद्यमान सम्पूर्ण अनर्थ इस ज्ञान से गायब हो जाते हैं। लोक में मैने जन्म लिया है, बड़ा हुआ हूँ, पिछले जन्म में मरकर अब जन्म लिया है, आगे भी आयु समाप्त होने पर फिर मर जाऊँगा–ऐसा सामान्य लोगों ने भावना की है, जब तक इस भावना से युक्त है तब तक जन्म से होने वाला दुःख,बड़े होने में विद्यमान दुःख,मरण से होनेवाला दुःख भी हममें विद्यमान है–इस तरह वे क्लेश को अनुभव करते हैं, गर्भ में वास करके, स्त्री शरीर के असह्य भाग से बाहर आने के दुःख का जन्म भी,शरीर,इन्द्रिय,मन,बुद्धि इनकी शक्तियों का वर्धन करके सक्रिय रखने के समान क्लेश, समस्त शक्ति सूखकर कृश होनारूप मृत्यु हम से कैसे छूट जायेगी ऐसा सोचकर तरह–तरह के उपायों को खोजते हैं। उपाय जीतने पर फूल जाते हैं,हार गये तो मुरझाते हैं– इस प्रकार के कुछ लोग; यह तो हमारे माथे पर लिखा हुआ होने के कारण इससे छूटना असाध्य है ऐसी भावना करनेवाले कुछ लोग; ऐसे मनुष्यजन्म में हमें क्यों भगवान् ने डाला है–इस प्रकार ईश्वर की निन्दा करने वाले कुछ मूर्ख लोग; जो भी दोष है रहने दो, अन्य गुण तो मनुष्यजन्म में विद्यमान होने के कारण हम ही धन्य है–इस प्रकार क्षणभंगुर हुए इस जीवन के विषमिश्रित अमृत के बून्द की समानता रखने वाले विषयभोगों की ओर मन को झूलने देकर भविष्य का विचार भी नहीं करते हुए मनमानी बर्ताव करने वाले अविवेकी कुछ लोग, कुल मिलाकर

जन्मवृद्धिमरण हमें विद्यमान है, ये दुःख रूप हैं ऐसा नहीं मानने वाले कोई भी नहीं है न ? इन सब के लिए वेदान्तज्ञान से होने वाला महा प्रयोजन यही है कि हमारी आत्मा के लिए उत्पत्ति,वृद्धि,मृत्यु ये सब है ही नहीं इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान हो जाना है।

प्राकृत हुए समस्त धर्म देह के हैं

पूर्वोक्त रीति से जन्म,वृद्धि,मरण–ये तीन देह में ही देखे गये हैं न कि आत्मा में। हमारे जन्म,वृद्धि,मरण को हमने नहीं देखा है। दूसरे लोग जन्मलेना,बढ़ना,मर जाना–ये सभी देह का ही उत्पन्न होकर, वृद्धि को प्राप्त कर, मर जाना है। अन्य लोग हमारे जन्म–मृत्यु देखते हैं यह विषय भी इसी प्रकार का है। इसलिए ये समस्त धर्म देह से सम्बन्धित हैं, हम से सम्बन्धित नहीं।

आक्षेप :– देह भी हमारी ही है इसलिए इसका जन्म–मरण आदि हमारे ही होना चाहिए न ?

समाधान :– पहले किये गये विचार को मन में लाने पर इस आक्षेप के लिए अवकाश नहीं मिलेगा। क्योंकि देह और हम में कौनसा सम्बन्ध है इसका अनुभव के आधार पर निर्धारित करना शक्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जाग्रत् में एक देह है तो स्वप्नों में सैकड़ो देह आ जाती है,इनमें कौन सी देह को हमारी है ऐसा अभिमान करना चाहिए ? स्वप्न की देह अलग– अलग होती रहने के कारण सर्वदा विद्यमान जाग्रत् की देह को ही हमारी मान लिया जाए इसके लिए भी अवकाश नहीं। क्योंकि पहले ही हम सिद्ध कर चुके हैं कि स्वप्न और जाग्रत् में कोई तारतम्य नहीं है,इसलिए जाग्रत् देह कौन सी है इसका निर्धारण ही अशक्य है। अतः उत्पत्ति आदि प्रतीति की

देहों में ही दृश्यमान होती है,उस शरीर एवं हमारे बीच कुछ भी सम्बन्ध ही नहीं ऐसा निर्णय होता हैं। अतः यही सिद्ध होता है कि प्रकृति से हुए समस्त धर्म देह से ही सम्बन्धित है। **प्रकृति** का अर्थ अज्ञानस्वभाव से प्रतिभासमान जगत् का बीज। इसको ही **माया** नाम पूर्व में कहा गया है। अज्ञान द्वारा हमने जिन जिन विकारों को हम में आरोपित किया हो वे सभी इस मायिक देह से ही सम्बन्धित है, वे वास्तविक नहीं है।

कर्तृत्वादि अंहकार के धर्म हैं

आक्षेपः– देह और हमारे में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसा कहना उचित नहीं दिखता है। क्योंकि देह और हमारे में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध विद्यमान है। देह हमारी है,हम उसके मालिक है। हम देहादि द्वारा कर्म करके उनके फल के उपयोगार्थ यह देह हमें प्राप्त है; भविष्य में भी इस प्रकार प्राप्त हो सकती है न ?

समाधान :– हमारे लिए शरीर,इन्द्रिय,मन आदि साधन विद्यमान है, इनका उपयोग करके कर्म करके पुण्यपापों को प्राप्त करते हैं; उनसे पुनः देह उत्पन्न होती है यह भी व्यावहारिक दृष्टि से सच है। परन्तु अब हमने परमार्थदृष्टि का अवलम्बन किया है। उस दृष्टि से अवलोकन करने पर जगत् के अनुरूप उसमें विद्यमान देह भी मायिक है; गाढ़निद्रा आदि अवस्थाओं में देह हो उसका सम्बन्ध हो वह हमारे लिए नहीं होने के कारण देह सम्बन्ध हमारे लिए स्वाभाविक कहना नहीं होता है। उसी दृष्टि से देखने पर हमारे लिये कर्तृत्व भी नहीं है। क्योंकि अहंकारादि से समन्वित होने से ही 'मैं इसको करता हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। विषय में आशा,उसके लिए संकल्प, निश्चय, कर्म आदि इस अहंकार का आश्रय लिए हैं, वे केवल

हमारे स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है। गाढ़निद्रा आदि अवस्थाओं में हमारे लिए अहंकार का सम्बन्ध नहीं रहने के कारण कर्तृत्व भी नहीं रहता है यह अनुभवसिद्ध है।

आक्षेप :– फिर तो ऐसा हो जायेगा कि हम जो कार्य कर रहे हैं उसके लिए हम जिम्मेदार नहीं है; अथवा कार्य करना,पुण्य पापों का सम्पादन करना, उनके फल को उपभोग करना ये सब कुछ भी नहीं है ऐसा हो जायेगा। तब इसको करना चाहिए,नहीं करना चाहिए इस प्रकार कथन करने वाला शास्त्र भी अप्रमाण हो जायेगा। इतना ही नहीं वेदान्त शास्त्र से प्राप्त होने वाली मुक्ति हो,उस मुक्ति से चले जाने योग्य बन्धन हो–कोई भी नहीं है ऐसा हो जायेगा। ये सब आप के लिए इष्ट है क्या ?

समाधान :– यह आक्षेप भी व्यवहार,परमार्थ इस प्रकार प्रविभाग नहीं करने के कारण जन्म लिया है। व्यवहारदृष्टि से हमें अहंकार सम्बन्ध विद्यमान है। इसलिए अहंकार में विद्यमान कर्तृत्वभोक्तृत्वआदि हमारे में प्रतिभासते रहते हैं। उस दृष्टि से निरीक्षण किया तो 'धर्माधर्मादि नहीं है' ऐसा कहना बनता नहीं। शास्त्र में भी इसी दृष्टि को स्वीकार करके विधिनिषेधों की व्यवस्था है। इस दृष्टि से पुण्य,पाप,स्वर्ग,नरक एक भी मिथ्या नहीं। किन्तु परमार्थदृष्टि से देखे तो हम में अहंकारसम्बन्ध है ही नहीं। हमारे में स्वतः किसी भी प्रकार का कर्तृत्व भी नहीं है। कुल्हाड़ी से वृक्ष काटते समय कुल्हाड़ी एक जगह पर नहीं ठहरते हुए ऊपर नीचे चलती रहती हैं, उसी प्रकार काटनेवाले का हाथ भी। किन्तु अहंकार को हम कुल्हाड़ी के समान कर्तृत्वपूर्वक उपयोग करते हैं ऐसा नहीं कहे सकते। क्योंकि कार्य करते समय अहंकार में यद्यपि विकार होते हैं तथापि हमारे स्वरूप में कोई भी विकार नहीं होते हैं। हम अहंकार और विकार के भी साक्षी हैं। इसलिए

अहंकार के कर्तृत्व–भोक्तृत्व हमारे में भ्रान्ति से आरोपित हैं ,हमारे स्वरूप में वे नहीं है। बन्धमोक्ष व्यवहार के लिए भी यही कारण कह सकते हैं, ऐसा अब स्पष्ट हो जाता है। अहंकार और हमारे में अज्ञान से हुआ सम्बन्ध से ही हमें क्रियाकारक फलस्वरूप कर्मबन्ध भी, ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूप द्वैतज्ञानबन्ध भी हुए हैं। इसलिए वेदान्तश्रवणादि से ज्ञान के सम्पादन द्वारा इस बन्धन से मुक्ति पानी पड़ेगी–यह भी व्यवहारदृष्टि से ठीक ही है। किन्तु परमार्थदृष्टि से देखने पर अहंकार का सम्बन्ध ही हमें नहीं होने के कारण हमारे स्वरूप के लिए बन्धन हो,मोक्ष हो है ही नहीं। इसलिए बन्धन, साधक,साधन,मोक्ष आदि भेद भी परमार्थ दृष्टि से है ही नहीं। यही परमसिद्धान्त है। यह किसी को भी अनिष्ट नहीं, क्योंकि परमार्थदृष्टि से इष्टानिष्ट कुछ भी नहीं है। इष्टानिष्ट की प्राप्ति में या परिहार में प्रयत्न करने वाले भी कोई भी नहीं। केवल परमात्मा मात्र विद्यमान है।

आक्षेप :– अहंकार में विद्यमान कर्तृत्वभोक्तृत्व आत्मा में आरोपित है ऐसा कहने से अहंकार चेतन है ऐसा हो जायेगा न ?

समाधान :– वास्तव में देखा जाए तो आत्मा नित्यमुक्त होने के कारण उसमें जिस प्रकार कर्तृत्व नहीं है उसी प्रकार अहंकार नित्य जड़ होने के कारण उसको भी कर्तृत्वादि नहीं है। तथापि व्यवहार दृष्टि में कर्तृत्व दिखने पर मात्र अहंकार में परिणाम होने के कारण भी,आत्मा में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होने के कारण भी यहाँ स्थूलदृष्टि से अहंकार को कर्तृत्व है ऐसा कहा गया है।

आक्षेप :– आत्मा एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाते समय–गाढ़

निद्रा में जाते समय अहंकारादियों का परित्याग करता हुआ,जाग्रत् में आने पर पुनः वापस लेता भी रहता है न। उतने हद तक कर्तृत्व को उसमें स्वीकार करना चाहिए न।

समाधान :– आत्मा कहीं भी जाता नहीं, आता भी नहीं, किसी का भी ग्रहण करता नहीं, किसी को भी छोड़ता भी नहीं। आकाश में मेघ आने पर भी, जाने पर भी जिस प्रकार आकाश अपने स्वरूप से स्वच्छ बना रहता है उसी प्रकार अहंकारादि माया द्वारा प्रतिभासने पर भी, अदृश्य होने पर भी स्वयं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होते हुए अत्यन्त स्वच्छ चैतन्यरूप से रहता है। अवस्थाएँ,अवस्थाओं में प्रतिभासमान अहंकारादि भी परमार्थ नहीं है ऐसा बार–बार कह चुके हैं, उसको लक्ष्य में रखने पर आत्मा में कोई भी कर्तृत्वादि नहीं दिखते हैं।

इसलिए मैं शिव हूँ :–

इस प्रकार रज्जुसर्प का दृष्टान्त,स्वप्न का दृष्टान्त,दर्पण–प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त इन तीनों का सामंजस्य कर आत्मा में अन्वय करके देखा जाए तो हम में जीवत्व हो या जगत् नहीं है ऐसा स्पष्ट होता है,यह ज्ञान जैसे–जैसे दृढ़ होता जाता है वैसे –वैसे नित्यशुद्धपरिपूर्ण भी अद्वितीय भी,सच्चिदानन्दस्वरूप भी हुआ परमशिव ही मैं हूँ यह ज्ञान भी दृढ़ हो जाता है।

जिसके लिए इस ज्ञान का समर्थन प्राप्त है उसके लिए भय हट जाता है, धैर्य उमड़ने लगता है,स्वेच्छाचार छूट जाता है, धार्मिक प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है, अविवेक समाप्त होता है, विवेक दोगुना हो जाता है। अन्याय,हिंसा,चोरी–इत्यादि नाम–निशान सहित मिटकर न्याय,करूणा,

सर्वभूतहितरति–आदि जड़ पकड़ने लगते हैं, आलस्य भाग जाता है; परोपकारार्थ कार्य करने का अभ्यास स्थिर हो जाता है, कहीं भी दु:ख दृष्टिगोचर नहीं होता है,सर्वत्र जहाँ देखो वहाँ सत्यज्ञानानन्दरूप परब्रह्म की लीला का ही दर्शन होने लगता है। इसलिए 'मैं शिव हूँ'इस शिवंकर ज्ञान का सभी लोगों को सम्पादन कर लेना चाहिए;वह तत्क्षण नहीं मिलने पर भी उसके लिए योग्यता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ओम् तत् सत्

भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र कृत वेदान्तप्रवेशिका व्याख्यान सम्पूर्ण हुआ।

शब्दानुक्रमणिका

इस प्रकरण में आ चुके पारिभाषिक शब्दों को यहाँ अकारादि क्रम से दिया गया है। ग्रन्थ में यद्यपि इनका उस उस स्थान पर विवरण दिया गया है तथापि वेदान्तग्रन्थों में बार–बार इनका प्रयोग होने के कारण जिज्ञासुजन को इनको स्मृति में धारण करना अच्छा है। विवरण में विद्यमान स्थूलाक्षर युक्त वचन अनुक्रमणिका में विवृत है।

अन्तःकरण :– हमारे भीतर विद्यमान जानने का और संकल्प का करण। अन्तःकरण को **बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार** नाम से भी पुकारते हैं।

अहंकार :– मैं **वृत्ति** रूपवाला अन्तःकरण। इसके सम्बन्ध से ही आत्मा में कर्तृत्वभोक्तृत्वों का लोगों ने अरोपित किया है।

आत्मानात्मविवेक :– अपना स्वरूप,(एवं) अपने स्वरूप से अन्वित नहीं होने पर भी 'मैं' ऐसा आरोपित की गयी प्रतीति–इन दोनों को विभक्त करके जानना।

आनन्द :– आत्मा का स्वरूपभूत सुख; विषय से होने वाला दिखावे का सुख नहीं।

आप्त :– तत्त्व के जानकार, लोगों के प्रति दयापूर्वक उद्बोधन करने वाले ज्ञानीजन।

इन्द्रियगोलक :– बाह्यविषयों को समझने के लिए विद्यमान करण का इन्द्रिय नाम है। उन इन्द्रियों के विद्यमान स्थान, नेत्र,कान,नाक आदि देहभागों के लिए गोलक नाम दिया गया है।

इहामुत्रार्थफलभोगविराग :– इस लोक में परलोक में भी भोगों को अनुभव करना चाहिए–इस विषय में वैराग्य। वेदान्त के विषय में योग्यता प्राप्त करने

के लिए आवश्यक चार साधनों में एक।

एक :– दूजा रहित आत्मा। अद्वितीय नाम से पुकारना भी इसी आत्मा को ही।

कूटस्थनित्य :– किसी भी विकार न होते हुए स्वयं ज्यों का त्यों विद्यमान **नित्य** आत्मा, आत्मा काल के बन्धन में नहीं है अतः कूटस्थ नित्य है।

चेतन :– ज्ञानयुक्त प्राणी। (सजीव)।

जड़ :– चेतन रहित पत्थर,मिट्टी आदि वस्तु।

ज्ञान :– ज्ञान का साररूप आत्मा; जाननारूप अन्तःकरण **वृत्ति** का भी ज्ञान नाम है।

त्रिपुटि :– ज्ञातृ,ज्ञान ज्ञेय; भोक्तृ,भोग,भोग्य इस प्रकार तीन–तीन रूप में विभक्त द्वैत।

नित्य :– सर्वदा विद्यमान। काल में विद्यमान **परिणामी नित्य,**काल का भी उल्लङ्घन किया हुआ **कूटस्थनित्य ।** इस प्रकार नित्य में दो प्रकार हैं।

नित्यानित्यविवेक :– कालवश में विद्यमान वस्तुएँ कौनसी है; काल को भी अतिक्रमण की हुई वस्तु कौनसी है ? ऐसा विभाग करने वाला **ज्ञान**।

निर्विकार :– किसी भी प्रकार के परिणाम से रहित। जन्म, विद्यमानता, वृद्धि, परिवर्तन,कृश हो जाना,नाश ये ही छः भाव विकार हैं। ये सभी आत्मा में विद्यमान नहीं होने के कारण वह निर्विकार है।

परमात्मा :– मिथ्याज्ञान द्वारा हमारा स्वरूप है ऐसा माने गये आत्माओं से भी श्रेष्ठ वास्तविक आत्मा ।

परमार्थसत्य :–जो यथार्थ में सत्य है। इसी को परमात्मा,परब्रह्म कहते हैं।

परिणामिनित्य :– परिवर्तनशील होने पर भी वही यह है इस प्रकार प्रतिभास

रही काल में विद्यमान वस्तु। **कूटस्थनित्य** नहीं।

पारमार्थिकसत्ता :– अपने स्वरूप को कदापि परिवर्तन नहीं करने वाली वस्तु की सत्ता।

पूर्ण :– देशकाल के बन्धन से रहित स्वयं अकेला ही सबकुछ हुआ आत्मा।

प्रत्यगात्मा :–हमारे भीतर की आत्मा। शरीर,प्राण,इन्द्रिय,मन,बुद्धि, अहंकार इन सबसे अन्दर विद्यमान होने के कारण आत्मा को प्रत्यगात्मा कहते हैं।

प्रातिभासिकसत्ता :– प्रतीति की सत्ता। दर्पण में विद्यमान प्रतिबिम्ब, रस्सी में प्रतिभासमान सर्प आदि प्रतीतियों में दिखाई देने वाली सत्ता प्रातिभासिक सत्ता है; वह **व्यावहारिकसत्ता** नहीं है, वास्तव में विद्यमान आत्मा की सत्ता नहीं होने के कारण पारमार्थिकसत्ता भी नहीं।

प्राण :– देह में विद्यमान होते हुए समस्त व्यापारों के लिए कारण हुई जीवनशक्ति। इसके लिए प्राण,अपान आदि **पाँच वृत्तियाँ** भी हैं।

बहिःकरण :– बाह्य इन्द्रियों के लिए बहिःकरण नाम है; ये बाह्य विषयों को ही ग्रहण करते हैं। चक्षुस् (नेत्र) आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्,पाणि आदि पांच कर्मेन्द्रिय ये सब बहिःकरण ही है। **अन्तःकरण** नहीं।

बुद्धि :– निश्चय करने की अन्तःकरणरूप **वृत्ति**।(कभी–कभी) अन्तःकरण को ही बुद्धि नाम से पुकारा जाता है।

मन :– वस्तुओं को एक–एक करके विकल्पित करके जानने की अन्तःकरण की **वृत्ति**। **अन्तःकरण** को भी मन नाम से पुकारते हैं।

विकल्प :– 1. वाणी से कहने पर भी जो वास्तविक नहीं; उदाहरण के लिए खरगोश का सींग–यह एक विकल्प है।

2. मन के द्वारा विविध प्रकार से कंल्पना करना।

वृत्ति :– 1. अन्तःकरण के विविध प्रकार से परिवर्तित होने वाले रूप । मन, बुद्धि आदि एवं काम आदि **वेदनाएँ** भी अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही हैं।

2. मुख्य प्राण के व्यापार प्राण,अपान,व्यान,उदान,समान।

वेदना :– सुख,दुःख इच्छा आदि अन्तःकरण की **वृत्तियाँ**।

व्यावहारिकसत्ता :– व्यवहार में अर्थात् लौकिकज्ञान और वाणी के द्वारा सत्यरूप में व्यवहृत हो रही वस्तुओं की सत्ता। जाग्रत् में हम वास्तव हैं ऐसी भावना की गयी वस्तुओं की सत्ता।

शमादिषट्कसम्पत्ति :– वेदान्त को सम्यक् रूप में जानने के लिए आवश्यक शम,दम,उपरति,तितिक्षा, श्रद्धा,समाधान नामक छः गुणों से समन्वित होना।

शुद्ध :– संसार की अशुद्धि या प्रपंच की अशुद्धि से रहित आत्मा।

सत्यज्ञानानन्दरूप :– जो वास्तव में अस्तित्व में है,ज्ञान का सार। सुख का सार–आत्मा का स्वरूप । आत्मा में ये तीनों धर्म नहीं है, केवल वही(आत्मा ही) इन तीनो नाम से पुकारा जाता है।

साक्षी :– साक्षात् किसी भी करण की अपेक्षा के बिना ही जान रहा चिद्रूप आत्मा ।

कृतज्ञता स्मरण

अब तक हमने विविध प्रकाशन द्वारा **पूज्य स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी** की तेरह पुस्तकें हिन्दी भाषा में प्रकाशित की हैं। यह कार्य अन्तर्यामी परमात्मा की प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करने से ही साध्य हुआ है। अनेक सन्त महात्माओं ने आशीर्वाद द्वारा मेरा उत्साह बढ़ाया है। कुछ सन्त महात्मा एवं भक्त गणों ने प्रत्यक्ष रूप में भी सहायता की है। किसी ने एक पुस्तक के किसी ने दो पुस्तकों के,किसी ने दो से अधिक पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता प्रदान की है। इन सबका यथा साध्य यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। इसके अलावा कुछ लोगों ने गुप्त रूप में भी सहायता की है। इन सब भगवत् प्रेमियों को नारायण स्मरण पूर्वक धन्यवाद समर्पित करता हूँ–

अनुवादक

नाम (श्री / श्रीमती)	**स्थान**	**राज्य**
पूज्य गुरूदेव श्री रामानन्द जी सरस्वती की अव्यक्त प्रेरणा		ओंकारेश्वर
पूज्य श्री कृष्णानन्द जी विरक्त की प्रेरणा	परिव्राजक	
पूज्य स्वामी ज्ञानप्रसूनेन्द्र सरस्वती	परिव्राजक	
पूज्य स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि	माउण्ट आबू	राजस्थान
पूज्य स्वामी आशुतोष भारती	परिव्राजक	
अध्यात्मप्रकाश कार्यालय	होलेनरसीपुर	कर्नाटक
रवि.आ.प्र. कार्यालय	बेंगलूरू	कर्नाटक
वेदब्रह्म प्रदीप भट्ट	मत्तूर	कर्नाटक

चन्द्रशेखर शर्मा	रतलाम	म.प्र.
जगदीश चन्द्र सेन	रतलाम	म.प्र.
आयुष सेन	रतलाम	म.प्र.
पुष्पेन्द्र जोशी	रतलाम	म.प्र.
अनिल सिंह राठौड़	रतलाम	म.प्र.
शैलेन्द्र सिंह राठौड़	रतलाम	म.प्र.
भानुप्रतापसिंह राठौड़	रतलाम	म.प्र.
शरद् जोशी	रतलाम	म.प्र.
राजू पाटील	रतलाम	म.प्र.
दिग्विजय सिंह धाभाई	रतलाम	म.प्र.
आशा त्रिवेदि(हस्त प्रति शोधन)	रतलाम	म.प्र.
गोवर्धन भाई पटेल	सूरत	गुजरात
प्रभा बहिन	सूरत	गुजरात
बलराम मोकाती	जामली	म.प्र.
कपिल मोकाती	जामली	म.प्र.
प्रहलाद मोकाती	जामली	म.प्र.
नन्दन मोकाती	जामली	म.प्र.
ऋषभ मोकाती	जामली	म.प्र.
रवि केलोत्रा	ग्वाल पलासिया	म.प्र.
केशव केलो़त्रा	ग्वाल पलासिया	म.प्र.
गौरव पाटीदार	महूं	म.प्र.
अनिरूद्ध पाटीदार	कुवाली	म.प्र.

चन्द्रशेखर कन्हैयालाल डिंगू	राऊ	म.प्र.
माधव डिंगू	राऊ	म.प्र.
राजकुमार पाटीदार	तिल्लोर खुर्द	म.प्र.
चन्द्रशेखर पाटीदार	तिल्लोर खुर्द	म.प्र.
नरेश सिंह राणावत	शाहपुरा	राजस्थान
वीरेन्द्रसिंह राणावत	तहनाल	राजस्थान
कैलाशचन्द्र लढ़ा	गुलाबपुरा	राजस्थान
देवकरण प्रजापत	प्रतापपुरा	राजस्थान
उदयलाल गाडरी	प्रतापपुरा	राजस्थान

भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्रजी के हिन्दी भाषा में अनुवादित ग्रन्थ

1.साधकों के प्रति (पत्र संकलन)

2. गीता शास्त्र विचार

3. दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् (व्याख्या सहित)

4. पारमहंस्यमीमांसा

5. गीता सदृश प्रासादिक ग्रन्थों का अध्ययन क्रम।

6. जीवनपथप्रदर्शिका

7. सद्गुरू का अनुग्रह

8. अनमोल बात मुस्कराहट के साथ

9. प्रातःस्मरणस्तोत्रम् (वेदान्तबालबोध व्याख्या)

10. अध्यात्मशास्त्रपरिभाषा

11. माण्डूक्योपन्यासमञ्जरी

12. अनुभवपर्यन्त आत्मविचार

13. वेदान्तप्रवेशिका

भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र विरचित

श्री आदि शंकराचार्य स्तवन

जय जय शङ्कर लोकगुरो। भयहर शङ्कर भुवनगुरो ।
निर्गुणसगुणाकार गुरो। निर्गतनिखिलाकार गुरो ।।
सर्गस्थितिसंहारगुरो। सर्गादित्रयदूरगुरो ।। 1 ।।
सुरभूसुरसन्तोषगुरो । नरतनुमायावेशगुरो ।
दुरितव्रातभ्रेषगुरो । सुरूचिरभारतभूषगुरो ।। 2 ।।
कालदेशमितिदूरगुरो। कालडिकलितशरीरगुरो ।
क्षालितसर्वविकारगुरो। बालशङ्कराकारगुरो ।। 3 ।।
शिवगुरूपरसम्मोदगुरो । अविरतपरमाह्लादगुरो ।
सुविदितविद्याभेदगुरो। कविजनतोषविनोदगुरो ।। 4 ।।
आर्याम्बासुप्रीतगुरो । चर्यानिष्ठापूतगुरो ।
मर्यादास्थितिनाथगुरो। तुर्याश्रमविख्यातगुरो ।। 5 ।।
गुरूगोविन्दछात्रगुरो । गुरूकरूणामृतपात्रगुरो ।
सुरवरपूज्यचरित्रगुरो । परिचितकाशीक्षेत्रगुरो ।। 6 ।।
प्रस्थानत्रयभाष्यगुरो । स्वस्थानेच्छ्वभिलाष्यगुरो ।
विस्तृतवेदसुजोष्यगुरो । उत्तमशिष्यान्वेष्यगुरो ।। 7 ।।
अध्यारोपनिरासगुरो। विद्याशक्तिविलासगुरो ।
सद्योमुक्तिनिदेशगुरो। भेद्यवादपरिहासगुरो ।। 8 ।।
सुरगुरूपूजितभाषगुरो । सुरेशवार्तिकतोषगुरो ।
परिमार्जितगुणदोषगुरो । परिपूर्णात्मसुवेशगुरो ।। 9 ।।
स्थापितपरमाद्वैतगुरो। लोपितनिखिलद्वैतगुरो ।
ख्यापितवेदान्तार्थगुरो । प्रापितनिजपदसार्थगुरो ।। 10 ।।
भक्ताऽविद्यानाशगुरो । भक्तवेद्यपरमेशगुरो ।
भक्तहृद्गुहावेशगुरो । भक्तहृदयकैलासगुरो ।। 11 ।।
नित्यसच्चिदानन्दगुरो । नित्यनिषूदितबन्धगुरो ।
नित्यशुद्धनिष्पन्दगुरो । नित्यपूज्यगोविन्दगुरो ।। 12 ।।

मूल्य निःशुल्क